तृतीय संस्करण
अक्षय तृतीया, २००६

मूल्य दो रुपये आठ आने

मुद्रक
दुर्गादत्त त्रिपाठी
सन्मार्ग प्रेस, टाउनहाल, बनारस।

क्रम

दो बातें

प्रिय प्रसाद जी के असमय स्वर्गवास के उपरान्त कई बार उनके विषय में कुछ संस्मरण लिखने का इरादा हुआ; पर जब जब लिखने बैठा, तब तब उस समय की प्रसाद-सम्बन्धी अनुभूतियों ने स्मृति-पट पर प्रकट होकर मुझे इतना अभिभूत कर दिया कि लेखनी जहाँ की तहाँ रख दी और उसी महापुरुष की स्मृति में तल्लीन हो गया। आज स्नेहभाजन मित्र विनोदशङ्कर व्यास के अनुरोध से प्रसाद जी पर फिर कुछ पंक्तियाँ लिखने बैठा हूँ। इस समय भी वही दशा है।

वास्तव में साहित्यिक प्रसाद की अपेक्षा मैं तो मनुष्य प्रसाद को ही महतोमहीयान मानता हूँ। साहित्यिक प्रसाद का परिचय तो अनेक लोग उनके साहित्य से प्राप्त कर चुके हैं और प्राप्त करते रहेंगे। किन्तु मनुष्य प्रसाद का परिचय तो अच्छी तरह वे ही प्राप्त कर सके हैं, जो उनके सम्पर्क में रहे हैं। बाबू जयशंकर प्रसाद केवल कवि ही न थे; वह एक उदार और सहृदय व्यक्ति थे। मै इसी माने में उनको महापुरुष मानता हूँ। मेरा और उनका साथ लगभग ५—६ वर्ष तक बराबर नित्य १८ से २० घंटे तक रहा। इस लंबे अवसर में उनमें अनेक विशेषताएँ मैंने पाईं, जिनका पूरा विवरण देने के लिए १००—५० पृष्ठ भी यथेष्ट न होंगे।

पहली और सब से बड़ी विशेषता उनमें यह देखी कि वह

प्रत्येक सहृदय-साहित्यिक के साथ असाधारण प्रेम का व्यवहार करते थे। आजकल के अनेक लेखकों की तरह वह किसी प्रतिस्पर्द्धी से ईर्षा न रखते थे। उन्होंने कभी किसी की निन्दा नहीं की। उनके मुख से मैंने उस मनुष्य के प्रति भी कभी कोई बुरा मन्तव्य नहीं सुना, जो उन्हें बुरा कहता था या उनकी प्रतिभा का कायल न था। प्रसाद जी यथाशक्ति प्रत्येक साहित्यिक का सम्मान और सहायता करते थे। दूसरी विशेषता यह उनमें थी कि मैंने कभी उनको क्रोधित होते नहीं देखा। यहाँ तक कि उनको एक बंगाली नौकर के कारण यथेष्ट आर्थिक हानि उठानी पड़ी; परन्तु उन्होंने उसके लिए भी कभी कटूक्ति नहीं की। तीसरी विशेषता यह पाई कि उनमें अभिमान नहीं था। आज के जमाने में ऐसी प्रकृति दुर्लभ ही है।

जब प्रसाद जी के भाँजे बाबू अम्बिकाप्रसाद गुप्त ने, उन्हीं की अनुमति से इन्दु नाम का मासिक पत्र निकाला था, उसी बीच मेरा और प्रसाद जी का प्रथम परिचय हुआ। वह अपने बैठके में बैठे तेल की मालिश करा रहे थे। मैं अपरिचित था। शायद उन्होंने मेरा नाम सुन रखा था। नाम सुनते ही उठकर गले से लगा लिया और सादर अपने पास बिठाया। कुछ साहित्यिक वार्तालाप हुआ। उन्होंने इन्दु का संपादन मुझे सौंपने की इच्छा प्रकट की। मैंने भी उनके साहचर्य लाभ के लोभ से उसे स्वीकार कर लिया। उसी दिन से मैं उनका अंतरंग मित्र बन गया और जीवन भर वह मुझे उसी तरह मानते रहे।

अन्तिम दिनों में प्रसाद जी नुमाइश के अवसर पर पुत्र सहित लखनऊ गये थे। लखनऊ पहुँचते ही वह मेरे घर पर गये। दुर्भाग्यवश उस दिन भेंट न हो सकी। वह फिर माधुरी कार्यालय में मिलने गये और ३–४ घंटे तक मेरे पास बैठे बातचीत करते रहे। वही मेरी और उनकी अन्तिम भेंट थी। आज भी उनकी वह मूर्ति मेरी आँखों के आगे है। भूलती नहीं। मेरा ख्याल है, प्रसाद जी एक विभूति थे। उन्होंने अपनी रचनाओं से हिन्दी के भंडार को समृद्ध बनाया है। जब तक उनकी ये कृतियाँ हैं, तब तक वह अमर हैं। प्रिय मित्र पं० विनोदशङ्कर जी उनके अंतरंग और घनिष्ठ मित्र थे। व्यास जी ने यह पुस्तक लिख कर प्रशंसनीय कार्य किया है। प्रसाद जी पर व्यास जी की यह पुस्तक सर्वांगपूर्ण और प्रामाणिक है। आशा है इसका प्रचार और आदर यथेष्ट होगा और व्यास जी का परिश्रम सार्थक होगा।

लीडर प्रेस वालों से मेरा यह अनुरोध है कि संपूर्ण प्रसाद-ग्रन्थावली का सटीक सुसम्पादित सुन्दर सस्ता संस्करण निकालने का अवश्य आयोजन करें। प्रसाद जी की रचनाओं को घर-घर पहुँचाना ही उनका लक्ष्य होना चाहिए, टके कमाना नहीं।

रूपनारायण पाण्डेय,

(माधुरी-सम्पादक)

आरम्भिक प्रवेश

यह सत्य है, यदि आधुनिक हिन्दी साहित्य से प्रेमचन्द और प्रसाद की समस्त रचनाएँ हटा दी जायँ तो उसमें कुछ नहीं रह जायगा। प्रसाद ने साहित्य के समस्त अंगों को नवीनता के ठोस साँचे में ढाला है। प्रेमचन्द जी ने कथा-साहित्य को जीवन दिया है। दोनों ही लेखकों की लेखनी के सम्मुख हम नत मस्तक हैं; उनके चरित्र और जीवन का जो अध्ययन करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था, उसमें आज तक जो अधिक उज्ज्वल रह सकी हैं, वह दोनों की हँसी थीं। प्रसाद प्रायः मुस्कराते थे और कभी कभी उनकी बड़ी सुन्दर हँसी खिल उठती थी। प्रेमचन्द जी भी बड़ी सरल हँसी हँसते थे। दोनों महारथियों की वह हँसती हुई आकृति अब भी स्वप्न चित्र की तरह आँखों के सम्मुख आकर खड़ी हो जाती है।

दूसरी ओर जब महाश्मशान पर इस नश्वर तन का धुआँधार अन्त, अन्त में दिखला कर संकेत करता है कि जीवन का मूल्य एक बार खिलखिला कर हँस देना है। कभी सुख, कभी दुःख। सुख-दुःख की यह जटिल पहेली कभी न सुलझी है और न सुलझेगी। दार्शनिक और विद्वानों की यह खुराक आलू की तरकारी की तरह भिन्न-भिन्न रूप और आवरण में तर्क की थाली में प्रस्तुत हुई है। कहना न होगा कि इसी सुख-दुख की गाथा ही से विश्व-साहित्य का निर्माण होता है।

इंग्लैण्ड के सम्मानित उपन्यास लेखक आर्नल्ड बेनेट ने साहित्य की विवेचना करते हुए लिखा है कि चार्ल्स लैम्ब अपने भाई की मृत्यु के बाद यह सोचता था—'यह सुन्दर है। दुःख सुन्दर है, निराशा और जीवन दोनों ही सुन्दर हैं। मैं उनसे अवश्य कहूँगा। और उन्हें यह समझाऊँगा।'

प्रसाद की बचपन से ही काव्य की ओर रुचि थी। इसलिए पहले वह कवि हुए, फिर नाटककार, कहानी और उपन्यास लेखक; और अन्त में

निबन्ध-लेखक । इस तरह प्रसाद ने साहित्य का जो ढाँचा तैयार किया था, वह उनके जीवन में ही पूर्ण हुआ । अन्तिम समय में उन्हे जो सब से बड़ा सन्तोष और शान्ति थी, वह इसी बात की कि उनका साहित्यिक कार्य क्रम पूरा हुआ था । हाँ, एक रहस्य यहाँ खोल देना आवश्यक प्रतीत होता है । यह एक प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रसाद ने जब सब अंगों की पूर्ति की तो गद्य-काव्य की उनकी कोई पुस्तक क्यों नहीं प्रकाशित हुई ? इसके उत्तर में श्री राय कृष्णदास के अतीत शीर्षक लेख का यह अंश यहाँ देना अनुचित न होगा ।

'इन्हीं दिनों जयशंकर जी ने भी पहिले पहल साधना को देखा। उन्होंने भी उसे बहुत पसन्द किया केवल जबानी ही नहीं । एक दिन आये, सुदामा की तरह कुछ छिपाये हुए । उसे बहुत छीना झपटी और हाँ-नहीं के बाद बड़े हाव भाव से उन्होंने दिखाया । उन दिनों उनकी ऐसी ही आदत थी कि अपनी रचनाएँ दिखाने में बड़ा तंग करते थे । वह एक साफ सुथरी छोटी सी कापी थी, जिसमें बीस के लगभग गद्य गीत उनके लिखे हुए थे । मैंने कइयों को झाँका सुन्दर थे । एक में का सन्ध्या वर्णन अभी तक नहीं भूला । किन्तु मैं उन दिनों बावला हो रहा था । मुझे अपनी शैली पर इतना ममत्व और आग्रह था कि जरा भी उदार नहीं होना चाहता था । मैंने छूटते ही कहा—'क्यों गुरु मुझी पर हाथ फेरना ।' वे मेरी संकीर्णता पहचान गये । कई दिन बाद कोई मुनासिब बात कहकर उसे उठा ले गये और उन भावों में से कतिपय को छन्दबद्ध कर डाला । उनके झरना के प्रथम संस्करण का अधिकांश उन्हीं कविताओं का संकलन है ।'

इस अंश से प्रसाद का व्यक्तित्व कितना उज्ज्वल और त्यागमय प्रकट [हो]ता है, य[ह] कि[सी] से छिपा न रहेगा ।

इस पुस्तक को उपस्थित करते हुए मुझे आज सुख और दुःख दोनों ही हो रहा है । सुख इसलिए कि वर्षों से अपने इस विचार को कार्य रूप में परिणत न कर सका था । अब उसे पूरा करते हुए वास्तविक सुख का

अनुभव कर रहा हूँ, और दुःख इसलिए कि प्रसाद जी के सामने यह पुस्तक नहीं तैयार हो सकी, नहीं तो इसकी त्रुटियाँ और अपूर्णता पर सन्देह न रहता।

१४ वर्ष प्रसाद जी के साथ रहकर एक छात्र रूप में जो कुछ मैंने उनसे पाया, उसी के बल पर इस पुस्तक को प्रस्तुत कर सका हूँ।

इस पुस्तक के समाप्त करने में मुझे सबसे बड़ी कठिनाई यही रही कि कहानी-उपन्यास को छोड़कर अन्य सभी विषयों से मैं प्रायः उदासीन ही रहा। प्रसाद जी साहित्य सृष्टा थे। बहुधा वह मुझे नाटक और काव्य की ओर आकर्षित करते रहे; लेकिन मैं कहानी-उपन्यास के क्षेत्र से आगे नहीं बढ़ सका। मेरा यह तर्क था कि पहले मैं इनका ही अध्ययन पूर्ण कर लूँ, तब दूसरी ओर साहस करूँ। उनके चले जाने पर अब तो सदैव के लिए यह प्रश्न सूखे हुए पुष्प की तरह पड़ा रहेगा।

काव्यवाला अंश निराला जी ने लिखना स्वीकार किया था; किन्तु अस्वस्थता के कारण लिख न सके। बाध्य होकर मुझे ही उसका ढाँचा बनाना पड़ा। कवि तो नहीं हुआ; किन्तु काव्य की आत्मा से कुछ स्नेह सा है। प्रसाद जब अपनी कविताएँ गुनगुनाते थे तो जैसे आनन्दमय लोक में वेदना की एक हलकी छाया छिप जाती थी। काव्य की ध्वनि और उनका वह स्वर कानों में भर जाता था। आज मैं अपने जीवन के निरस दिनों में उन्हे गुनगुनाकर स्मृति की रेखाएँ बटोरता हूँ।
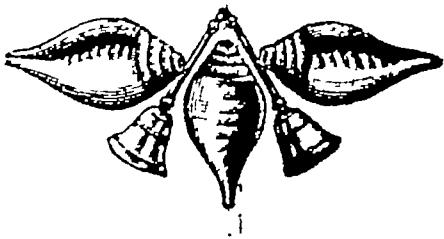
इस अंश में जितनी कविताएँ संग्रहीत हैं, उनमें अधिकांश वे ही हैं, जो प्रायः वह सब को सुनाते थे। पं० केशवप्रसाद जी मिश्र के आदेश और पं० पद्मनारायण आचार्य की सहायता से लेख अधूरा नहीं प्रतीत होता।

नाटकों का कथाभाग मैं बना चुका था। भूमिका के रूप में ५-६ पृष्ठ पं० रामविलास शर्मा और श्री० ज्ञानचन्द का लिखा है।

मकर संक्रान्ति, १९९६ सं०
मानमन्दिर, काशी।

विनोदशंकर व्यास

प्रसाद और उनका साहित्य

विनोदशङ्कर व्यास

प्रसाद का जीवन

प्रसाद जी के पितामह बाबू शिवरत्न साहु बड़े दानी और उदार पुरुष थे। वह कान्यकुब्ज वैश्य जाति के थे, और सुँघनी साहु के नाम से विख्यात थे। प्रातःकाल गंगा स्नान से लौटते समय वह अपना कम्बल और लोटा तक दे डालते थे। वह गुप्त रूप से विद्यार्थियों, दीन-दुखियों और ब्राह्मणों की बड़ी सहायता करते थे। यह बात प्रसिद्ध थी कि उनके द्वार से कोई खाली हाथ नहीं लौटता। उन्होंने पहली बार सुर्ती गोली का अन्वेषण किया था और उन्हीं की आविष्कार की हुई यह पान में खानेवाली सुर्ती गोली काशी की एक निजी चीज है।

प्रसाद जी के पिता बाबू देवीप्रसाद जी भी व्यवसाय-कुशल और उदार थे। उस समय बाहर से आनेवाले कवि, भाट, बाजीगर और विद्वान सभी काशीराज के दरबार से लौट कर इनके यहाँ अवश्य आते थे। काशी मे दो ही स्थानों में गुणियों का आदर था, एक काशी नरेश के यहाँ और दूसरे सुँघनी साहु के यहाँ। यही कारण था कि काशी नरेश के अभिवादन में लोग महादेव कहा करते थे और सुँघनी साहु के लिए भी वही सम्मान-सूचक महादेव का अभिवादन होता था। मैंने प्रसाद जी के साथ देखा है, बहुधा उन्हें लोग महादेव कह कर सम्मान प्रकट करते थे। काशी में यह सम्मान केवल महाराज बनारस और सुँघनी साहु को ही प्राप्त था।

सं० १९४६ में ऐसे ही कुल में महाकवि प्रसाद का जन्म हुआ था। प्रसाद जी का बचपन बड़े लाड़ प्यार से बीता।

सम्वत् १६५७ में अपनी माता के साथ उन्होंने धाराक्षेत्र, ओंकारेश्वर, पुष्कर, उज्जैन, जयपुर, व्रज और अयोध्या आदि की यात्रा की। उस समय उनकी अवस्था ११ वर्ष की थी। अमरकंटक पर्वतमाला के बीच, नर्मदा की नौका यात्रा उन्हें जीवन भर न भूली थी। वहाँ के दृश्यों का उनके जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। प्रकृति के अनुपम सौन्दर्य की छाया में प्रथम बार उनकी कविता ने विकास के आलोक में पदार्पण किया। उसी के साथ ही कवि का प्रादुर्भाव हुआ।

यहाँ पर मैं यह भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि प्रसाद जी को अपने जीवन में यात्रा करने का बहुत कम अवसर मिला था। एक बार कलकत्ता, पुरी, लखनऊ और एक दो बार प्रयाग—बस यही उनकी यात्रा का विवरण है। अनेक परिस्थितियों के कारण जिम्मेदारी का बोझ लादे हुए प्रसाद जी भ्रमण नहीं कर सके। ११ वर्ष की अवस्था में जो यात्रा हुई थी, प्राकृतिक वर्णन में उसका प्रभाव हम उनकी आरम्भिक कविताओं में ही देखते हैं; और पुरी के समुद्र तट पर बैठ कर ही उन्होंने जागरण शीर्षक कविता ता० १६ दिसम्बर को लिखी थी।
कितनी सुन्दर पंक्तियाँ हैं—

"जहाँ साँझ-सी जीवन छाया
ढीले अपनी कोमल काया।
नील नयन से ढुलकाती हो
ताराओं की पाँति घनी रे।"

पुरी से लौटने के बाद ही कामायनी का कथा-भाग आगे बढ़ने लगा। पुरी के समुद्र-तट का प्रभाव कामायनी में सरलतापूर्वक खोजा जा सकता है। मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि प्रसाद जी को कहीं विशेष भ्रमण करने की सुविधा प्राप्त हुई होती तो सम्भव है, वह और भी अधिक पुष्ट और ठोस साहित्य का निर्माण कर पाते।

प्रसाद जी की एकेडेमिक-शिक्षा केवल सातवें दर्जे तक क्वीन्स कालेज में हुई। पिता के देहान्त के कारण बारह वर्ष की अवस्था में स्कूल की पढ़ाई छोड़नी पड़ी, घर पर ही पंडित और मास्टर रख कर इनकी संस्कृत और अँगरेजी की पढ़ाई का प्रबन्ध इनके बड़े भाई ने किया। श्री० दीनबन्धु ब्रह्मचारी उन्हें संस्कृत और उपनिषद् पढ़ाते थे। ब्रह्मचारी जी सदाचारी पुरुष थे। वेद और उपनिषद् का उनका अच्छा अध्ययन था। अतएव प्रसाद जी के जीवन पर उनके शिक्षण का विशेष प्रभाव पड़ा। पितामह और पिता के समय से ही समस्यापूर्ति करनेवाले कवियों का जमघट रहता था। यही कारण है कि आरम्भ में प्रसाद जी ब्रज भाषा की कविताओं की ओर आकर्षित हुए।

उनकी १५ वर्ष की अवस्था थी जब माता का देहान्त हुआ।

इन दिनों कसरत करने और पढ़ाई-लिखाई के अतिरिक्त प्रसाद जी को दुकान का काम भी देखना पड़ता था। वह दुकान पर बैठे बैठे बही खाते के रद्दी कागज पर कवितायें लिखते थे। एक दिन उनका यह रहस्य खुल गया। उनके बड़े भाई बाबू शम्भूरत्न जी को पता लगा कि प्रसाद जी दुकान पर बैठ कर कुछ काम तो करते नहीं हैं, केवल कविता बनाया करते हैं। इस पर वह रुष्ट हुए। अब प्रसाद जी गुप्त रूप से ही यह कार्य करते, जिसमें किसी को प्रकट न हो। कुछ दिनों के बाद जब आने जाने वाले कवियों द्वारा प्रसाद जी की समस्यापूर्ति की प्रशंसा शम्भूरत्न जी के सम्मुख की गई तो प्रसाद जी के ऊपर से यह प्रतिबन्ध हटा।

सत्रह वर्ष की अवस्था में बड़े भाई बाबू शम्भूरत्न जी का स्वर्गवास हुआ।

दोनों भाइयों में प्रगाढ़ स्नेह था। शम्भूरत्न जी बड़े उदार और खर्चीले पुरुष थे। उनका रहन-सहन उच्चकोटि का था। सुन्दर बलिष्ठ शरीर, प्रभावशाली व्यक्तित्व प्रकट करता था।

ऐसी असामयिक दुर्घटना से प्रसाद जी अस्त-व्यस्त हो गये। वह यही न निश्चय कर पाते कि अब वह क्या करें। परिवार के सभी लोग चल बसे थे। केवल एक भौजाई बच गई थीं। इस असार संसार में उनका कोई अपना न था। ऐसे समय में उनकी पैतृक सम्पत्ति पर क़ब्जा करने के लिए कुटुम्बियों और उनके सम्बन्धियों का षड़यन्त्र चल रहा था, उनके जीवन मरण का प्रश्न उपस्थित था।

मुझसे जब कभी वह अपनी जीवन कहानी सुनाते तो उनका चेहरा तमतमा उठता, आँखें भर आतीं और ललाट पर संसार की कठोरता की एक रेखा स्पष्ट खिंच जाती थी।

अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए भी प्रसाद जी ने पठन-पाठन को ही ध्येय बना लिया था। उनका अधिकांश समय साहित्यिक वातावरण में ही व्यतीत होता था।

प्रसाद जी के जीवन में एक और ध्यान देनेवाली घटना है—उन्हें स्वयं अपना विवाह करना पड़ा। पहली पत्नी का देहान्त हो गया, फिर दूसरा विवाह किया। दूसरी स्त्री की मृत्यु के पश्चात् उनके विचार गंभीर और ठोस हो गए थे। अब फिर से घर बसाने की उनकी लालसा न थी। कुछ समय बाद लोगों के समझाने पर और सबसे अधिक अपनी भाभी के प्रतिदिन के शोकमय जीवन को सुलझाने के लिए उन्हें बाध्य हो कर तीसरा विवाह करना पड़ा। चि० रत्नशंकर तीसरी पत्नी की सन्तान हैं।

प्रसाद जी अनेक आपत्तियों और विशेषतः ऋण के कारण अधिक चिन्तित रहा करते थे। खानदानी दान-शीलता और लम्बे खर्च के कारण वह अपनी स्थिति सुधारने में असमर्थ हो रहे थे। अन्त में कुछ सम्पत्ति बेंच कर वह ऋण भार से मुक्त हुए।

१९१० ई० तक हिन्दी पुस्तक-प्रकाशन बाल्यावस्था में था। अच्छे साहित्य की न तो माँग ही थी और न ऐसे प्रकाशक ही थे। मासिक-

पत्र-पत्रिकाओं में एक मात्र 'सरस्वती' का ही स्थान था। प्रसाद जी का आचार्य द्विवेदी जी से कुछ मत-भेद था। यही कारण था कि प्रतिभाशाली होने के कारण भी 'सरस्वती' से उन्हें प्रोत्साहन नहीं मिला, जैसा कि श्री० मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामचरित उपाध्याय और सनेही जी को मिला था। शायद इसीलिए ही प्रसाद जी ने एक साहित्यिक पत्र निकालने का निश्चय किया।

उनके आदेशानुसार उनके भाँनजे श्री० अम्बिकाप्रसाद गुप्त ने 'इन्दु' मासिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। इन्दु उच्चकोटि का साहित्यिक मासिक पत्र था। प्रसाद जी उसमें बराबर लिखते रहे। उनकी कविता, कहानी और लेखों से 'इन्दु' सुशोभित रहता था। आर्थिक हानि के कारण मासिक पत्र चलाना उस समय बड़ा कठिन था; किन्तु प्रसाद जी 'इन्दु' को आर्थिक सहायता देते हुए आगे बढ़ाते गए। 'इन्दु' ने साहित्य की जो सेवा की है, वह हिन्दी-साहित्य का इतिहास बनानेवालों से छिपी नहीं है। पं० रूपनारायण पाण्डेय भी उस समय 'इन्दु' के सम्पादकीय विभाग में थे।

१९१० ई० में जिस साहित्य का निर्माण प्रसाद जी ने आरम्भ किया था, उसका विकास और प्रकाश धीरे-धीरे बढ़ने लगा।

नियमित रूप से प्रसाद जी लिखते रहे। अतएव अन्य मासिक पत्र-पत्रिकाओं की उत्सुकता बढ़ी, और सम्पादकों का अनुरोध प्रसाद जी टाल न सके। उन्हें सब के लिये कुछ न कुछ लिखना ही पड़ता था। इसमें सन्देह नहीं कि 'माधुरी' के जन्मकाल से ही प्रसाद जी की लेखनी वेग से चलने लगी।

प्रसाद की रचनाओं को तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है—

१—आरम्भिक काल

२ मध्य काल

३—अन्तिम काल

आरम्भिकाल—१९१० ई० से १९२२ ई० तक की लिखित पुस्तकें ये हैं—विशाख, राज्यश्री, अजातशत्रु, झरना, प्रतिध्वनि, छाया, प्रेमपथिक, महाराणा का महत्व, चित्राधार।

१९२३ ई० में प्रसाद जी से मेरा परिचय हुआ था।

१९२३ ई० से १९२९ ई० तक उनका मध्य काल समझना चाहिए। उस समय तक उनकी प्रकाशित पुस्तकों की सूची इस तरह है—स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, कामना, आकाशदीप, आँसू, कंकाल और एक घूँट। १९२९ ई० से १९३७ तक आँधी, तितली, ध्रुवस्वामिनी, इन्द्रजाल, लहर, कामायनी, काव्य और कला और अधूरा इरावती उपन्यास।

प्रसाद जी का मध्य और अन्तिम काल ही महत्वपूर्ण समझा जायगा, क्योंकि इन कालों के सभी ग्रन्थ संसार की किसी भाषा में भी अनुवादित होकर विश्व-साहित्य में स्थान बना सकते हैं।

मैंने देखा है, प्रसाद जी की दिनचर्य्या ही साहित्यिक थी। प्रातःकाल से रात्रि तक वे या तो पढ़ते-लिखते अथवा लेखक और कवियों से साहित्यिक चर्चा होती रहती। उन्हें अवकाश ही न मिलता कि वह अपने व्यवसाय की ओर ध्यान देते। अधिक से अधिक वह इतना ही करते थे कि कस्तूरी का व्यापारी आया तो कस्तूरी परख कर खरीद लेते। 'भपका' चढ़ा तो गुलाबजल और इत्रों की देख-रेख कर लेते। प्रसाद जी अपने व्यवसाय के पूर्ण ज्ञाता थे। वे सुर्ती, इत्र और हर तरह के 'टॉयलेट' का सामान बहुत सुन्दर बना लेते थे। लेकिन इन कार्यों में उनका मन ही न लगता।

सन्ध्या समय नारियल बाजार में उनकी दुकान के सामनेवाले चबूतरे पर बैठक जमती। साहित्यिकों का नियमित जमघट होता। ६ से ९ बजे रात तक बातें होती रहतीं। कभी-कभी आनेवाले लोगों में साहित्यिक प्रश्नों पर तर्क भी होने लगता। प्रसाद जी मौन होकर सुनते और अन्त में कभी बहुत पूछने पर अपना मत प्रकट करते।

बहुधा व्यर्थ समय नष्ट करनेवाले मनुष्य भी आकर उनके यहाँ एकत्रित हो जाया करते थे। उनके चले जाने पर मैं उनसे कहता—पता नहीं आपको इन मूर्खों को बैठा रखने में क्या मज़ा मिलता है ?

तो वे व्यंगपूर्वक कहते—क्या तुम यह चाहते हो कि ऐसे लोगों को मैं अपने यहाँ आने से मना कर दूँ ?

प्रसाद जी की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह किसी को दुखी और अपमानित नहीं करना चाहते थे।

कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि प्रसाद जी मौन गम्भीरता का अभिनय कर अपना गौरव बनाये रखने की चेष्टा करते थे। मैंने अपने इतने दिनों के लम्बे साथ उन्हें सर्वदा मृदुभाषी, हँसमुख, मिलनसार, सहृदय और व्यवहार-कुशल पुरुष ही पाया। हाँ, वे 'इंटरव्यू' सम्मति और विवादग्रस्त प्रश्नों के उत्तर देने से सदैव ही दूर रहते थे, क्योंकि इस बीसवीं शताब्दी के पत्रकारों की तिल का ताड़ बना देनेवाली आदत से वे भलीभाँति परिचित थे।

मैंने तो यहाँ तक देखा है कि जिन लोगों ने उनकी रचनाओं की तीव्र आलोचना लिखी है, उनके प्रति भी प्रसाद जी कोई द्वेष नहीं रखते थे। सामना होने पर मुस्करा कर सज्जनोचित रूप से पेश आना और उस आलोचना के सम्बन्ध में भूल से एक शब्द अपनी ज़बान पर न लाना उनकी विशेषता थी।

यहाँ पर यह भी लिख देना अनुचित न होगा कि आरम्भ में स्वर्गीय प्रेमचन्द जी भी प्रसाद जी के विरोधियों में थे। उन्होंने प्रसाद जी के नाटकों के सम्बन्ध में लिखा था क 'नाटकों में ऐसे प्लाट का उपयोग करना गड़े मुर्दे उखाड़ना है'। उनकी यह आलोचना 'माधुरी' में प्रकाशित हुई थी।

प्रेमचन्द और प्रसाद दो ही सम्मानित महारथी हिन्दी संसार में विशेष श्रद्धा के पात्र थे। प्रेमचन्द जी के इन शब्दों का प्रभाव

प्रसाद जी के ऊपर अवश्य पड़ा था, किन्तु बाहर से वह प्रकट नहीं करना चाहते थे।

हिन्दी के साहित्यिक-बाजार में उन दिनों दलबन्दी की धूम थी। एक तरफ विख्यात प्रोपोगैंडिस्ट पं० बनारसीदास चतुर्वेदी अपना बंगीय शंख फूँक रहे थे, दूसरी तरफ पं० दुलारेलाल भार्गव उदीयमान लेखकों का साँचा तैयार कर रहे थे। ये दोनों महापुरुष प्रसाद जी के विरोधियों में थे।

एक दिन आवेश में आकर मैंने प्रसाद जी से कहा—मैं इन लोगों का उत्तर देना चाहता हूँ।

उन्होंने कहा—लिखने दो; न मैं खुद उत्तर देना चाहता हूँ और न तुम्हें ही सलाह दूँगा।

उन दिनों नोबुल प्राइज विजेता स्वीस लेखक कॉर्ल स्पिटलर की 'लाफिंग ट्रुथ्स' पुस्तक मैं पढ़ रहा था। उसमें एक स्थान पर लिखा था:—

'यहाँ एक और सुन्दर दृश्य है। एक लेखक समूह दूसरे समूह को गर्व के साथ पशुवत आचरण करनेवाला सिद्ध करके समाज से पृथक करता है और दूसरा समूह भी उन्हें विश्वास-घातक तथा भ्रष्ट कह कर उनका परिचय स्त्रियों को देता है और इस पर भी हम लोगों को ग्रन्थकार की कला का सम्मान करने के लिये कहा जाता है। मैं नहीं जानता कि इसको आरम्भ किसने किया, किन्तु मेरा सम्बन्ध इस बात की खोज करने से, कि इसका अन्त कौन करेगा, बहुत अधिक है।'

मैंने यह वर्णन प्रसाद जी को दिखलाया। वह मुस्कराये, बोले—ऐसे लोग सभी युग में और सभी साहित्य मे रहे हैं और रहेंगे। उन पर ध्यान न देना चाहिये।

मेरे यह लिखने का तात्पर्य यही है कि ऐसी बातों को द्वेष के रूप में प्रसाद जी अपने मस्तिष्क में स्थान नहीं देते थे।

उस आलोचना के कई मास बाद प्रेमचन्द जी प्रसाद जी के यहाँ आये और उन्होंने अपने लिखने पर खेद प्रकट किया।

प्रसाद जी ने बड़ी सरलता से कहा—मुझे उसका कोई ख्याल नहीं है।

'कंकाल' की आलोचना करते हुए उसी भाव को प्रेमचन्द जी ने स्वयं प्रकट किया था—

'ककाल' प्रसाद जी का पहला ही उपन्यास है, पर आज हिन्दी में वहुत कम ऐसे उपन्यास हैं, जो इसके सामने रखे जा सकें। मुझे अब तक आपसे यह शिकायत थी, कि आप क्यों प्राचीन वैभव का राग अलापते हैं, ऐसी चीजे क्यों नही लिखते जिनमें वर्तमान समस्याओं की गुत्थियाँ सुलझायी गयी हो। न जाने क्यों मेरी यह धारणा हो गई है, कि हम आज से दो हजार वर्ष पूर्व की बातों और समस्याओं का चित्रण सफलता के साथ नहीं कर सकते। मुझे यह असम्भव सा मालुम होता है। हमको उस जमाने के रहन-सहन, आचार-विचार का इतना अल्प ज्ञान है, कि क़दम-क़दम पर ठोकरें खाने की सम्भावना रहती है। हमको बहुत कुछ कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है, और कल्पना यथार्थ का रूप खड़ा करने में बहुधा असफल होती है। शायद यह मेरी प्रेरणा का फल है, कि प्रसाद जी ने इस उपन्यास मे समकालीन सामाजिक समस्याओं को हल करने की चेष्टा की है, और खूब की है। मेरी पहली शिकायत पर कुछ लोगों ने मुझे खूब आड़े हाथों लिया था, पर अब मुझे वह कठोर बातें बहुत प्रिय लग रहीं हैं, अगर ऐसी ही दस पाँच लताड़ों के बाद ऐसी सुन्दर वस्तु निकल आए, तो मैं आज भी उनको सहन करने को तैयार हूँ।

अन्त में घनिष्ठता इतनी बढ़ी कि प्रति दिन जब प्रातःकाल प्रसाद जी टहलने के लिए विक्टोरिया-पार्क में जाते थे तो प्रेमचन्द जी से उनकी मुलाकात बराबर होती।

प्रसाद जी की अन्तरंग मंडली बहुत बड़ी न थी। वह किसी के यहाँ जाने में हिचकते थे। जब कभी वह घर से बाहर निकलते

तो उनके लिए दो ही स्थान थे, या तो श्री राय कृष्णदास के यहाँ अथवा मेरे यहाँ। उनके मित्रों में राय कृष्णदास जी और पं० केशवप्रसाद मिश्र प्रमुख थे।

मित्रता के सम्बन्ध में प्रसाद जी का क्या सिद्धान्त था, इसका आभास 'आँधी' कहानी के इस अंश में झलकता है।

'मित्र मान लेने में मेरे मन को एक तरह की अड़चन है। इसलिए मैं प्रायः अपने कहे जाने वाले मित्रों को भी जब अपने मन में सम्बोधन करता हूँ, तो परिचित ही कह कर, सो भी जब इतना माने बिना काम नहीं चलता। मित्र मान लेने पर मनुष्य उस से शिवि के समान आत्मत्याग, वोधिसत्व के सदृश सर्वस्व समर्पण की जो आशा करता है और उसकी शक्ति की सीमा को तो प्रायः अतिरंजित देखता है। वैसी स्थिति में अपने को डालना मुझे पसन्द नहीं। क्योंकि जीवन का हिसाब-किताब किसी काल्पनिक गणित के आधार पर रखने का मेरा अभ्यास नहीं, जिसके द्वारा मनुष्य सबके ऊपर अपना पावना ही निकाल लिया करता है।'

कभी-कभी हमलोग इक्के पर बैठ कर पं० केशवप्रसाद जी मिश्र और भाई वाचस्पति के यहाँ जाया करते थे।

मुझे अभी तक भूला नहीं है कि एक तरफ ६ पैसे के इक्केपर मैं और प्रसाद जी जा रहे थे, और दूसरी ओर से, विश्वविद्यालय से आते हुए, स्व० लाला भगवानदीन, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल एक ही इक्के पर लदे चले आ रहे थे।

सहसा मैं प्रसाद जी से कह उठा—देखिए, यह हिन्दी-साहित्य का कितना बड़ा दुर्भाग्य है कि उसके इतने बड़े-बड़े महारथी लोग छः पैसे के इक्के पर धूल फाँकते चले जा रहे हैं।

इस अवसर पर वह खिलखिला कर हँस पड़े।

प्रसाद जी बड़े हास्य-प्रिय थे। वह बड़ा सुन्दर मजाक करते थे, किन्तु केवल अपने अन्तरंगों के साथ।

श्री० मैथिलीशरण गुप्त, स्वर्गीय अजमेरी जी के साथ काशी आते तो कभी राय कृष्णदास जी अथवा प्रसाद जी के यहाँ मंडली एकत्रित होती। खूब आनन्द आता था। स्व० अजमेरी जी तो हँसी के खजाना थे।

प्रसाद जी भोजन के बड़े शौकीन थे। वह स्वयं अपने हाथ से अच्छा खाना बना लेते थे। एक बार बगीचे की सैल थी। मंडली में २०-२५ आदमी थे। भोजन और ठंढाई का पूरा प्रबन्ध था। दाल, चावल अलग-अलग हाँड़ियों में चढ़ गया। प्रसाद जी गोभी, आलू, मटर की तरकारी और चूरमे का लड्डू बनाने में व्यस्त हो गए। वड़े उत्साह से उस दिन उन्होंने बनाया था। उनके बनाये हुए पदार्थ इतने स्वादिष्ट थे कि आज तक भूले नहीं हैं। उसके बाद तो अनेक अवसर आये, लेकिन वह तरकारी बड़ी सुस्वादु बनी थी। मुझे उसी दिन पता लगा कि प्रसाद जी भोजन बनाने में भी कुशल हैं।

प्रसाद जी को पुष्पों से अधिक प्रेम था। उन्होंने अपने मकान के सामने एक छोटा-सा उद्यान लगाया था। प्रति दिन वह दो तीन घंटा उसमें लगाते थे। तरह-तरह के फूलों की क्यारियाँ बनी थीं। गुलाब, जूही, बेला, रजनीगंधा इत्यादि जब फूलते तो मुग्ध होकर वह देखते। वर्षा के दिनों में वह छोटी-सी वाटिका अत्यन्त मनोरम मालुम पड़ती थी। पारिजात के वृक्ष के नीचे एक पत्थर की चौकी थी, उसी पर बैठ कर प्रसाद जी अपनी रचनाएँ सुनाते थे।

प्रसाद जी को एक शतरंज छोड़ कर और अन्य किसी खेल से प्रेम न था। वह खिलाड़ी मिल जाने पर शतरंज अवश्य खेलते थे। मुझे यह मनहूस खेल पसन्द नहीं था, अतएव मैं सदा इसका विरोध करता। इस पर वह कभी चिढ़ भी जाते थे। मैं मौन होकर बैठा रहता।

संसार के किसी महान् लेखक—ह्यूगो, टॉल्सटाय, ड्यूमा की रचनाओं पर तैयार की हुई फ़िल्म आ जाती तो वह सिनेमा भी चले जाते थे। सब से अधिक नाव पर बैठ कर सैर करना ही उन्हें पसन्द था।

१९३१ ई० में प्रसाद जी का साहित्यिक कार्य क्रम शिथिल हो रहा था। उन्होंने एक मकान बनवाया था। उसमें खर्च काफी हो गया। उधर आय भी कम हो गई थी। व्यवसाय की ओर ध्यान न देने के कारण दिन पर दिन हानि की सम्भावना ही दिखाई पड़ने लगी।

मन-बहलाव के विचार से ही सपरिवार वह पुरी गये थे। मैं उनके साथ कलकत्ते तक गया था। पुरी के रमणीक दृश्यों ने उनके कवि-हृदय को आश्वासन तो दिया परन्तु अधिक खर्च हो जाने के कारण मानसिक व्यग्रता फिर उपस्थित हुई। क्या होगा ? कैसे चलेगा ?—रहस्यवादी होने पर भी इन प्रश्नों में वह उलझ गये। आर्थिक समस्याओं के कारण अब वह नियमित रूप से कारखाने का कार्य देखने लगे।

'हंस' मासिक रूप में, कहानियों का मासिक पत्र, प्रेमचन्द जी के सम्पादन में निकल रहा था, उसका नामकरण और योजना प्रसाद जी की ही थी। वह उसमें बराबर लिखते रहे। अब उनका विचार था कि काशी से एक शुद्ध साहित्यिक पाक्षिक पत्र निकाला जाय।

भाई शिवपूजन जी भी उन दिनों काशी में ही रहते थे। हम लोगों ने शीघ्र ही निश्चय कर लिया कि उनके सम्पादन में पत्र का प्रकाशन आरम्भ कर दिया जायगा। अतएव प्रसाद जी से पूछा गया कि पत्र का नाम क्या होगा; दो दिन विचार करने के बाद उन्होंने पत्र नाम का 'जागरण' रखा।

वसन्त पंचमी—११ फरवरी १९२९ ई०—को पुस्तक मन्दिर से 'जागरण' का प्रथम अंक प्रकाशित हुआ था। 'जागरण' को उनका पूर्ण सहयोग प्राप्त था। शिवपूजन जी उन्हीं के आदेशानुसार उसका सम्पादन करते थे। पूर्ण साहित्यिक होने के कारण पत्र सर्व-साधारण के उपयुक्त न था। अतएव उसमें भारी हानि होती जा रही थी। अन्त में वह पत्र प्रेमचन्द जी को दे दिया गया। प्रेमचन्द जी के सम्पादन में वह साप्ताहिक होकर निकला।

प्रसाद का वास्तविक जीवन बहुत ही स्पष्ट था। मैंने उन्हें सदैव ही सात्विक पाया। पान को छोड़ कर उन्हें और कोई व्यसन नहीं था, वह भाँग तक नहीं पीते थे। माँस-मदिरा से हार्दिक घृणा-सी थी। शराबी चरित्रों का निर्माण करने में वह अत्यन्त स्वाभाविक थे, किन्तु उन्होंने लोगों को पीते हुए और नशे में देखा था। लेकिन खुद कभी नहीं। चौदह वर्ष तक प्रायः प्रति दिन प्रसाद जी के साथ रहते हुए भी मैंने उनमें कोई दुर्गुण नहीं देखा।

लेखक के चरित्र का प्रभाव उसकी रचनाओं में कहाँ तक पड़ता है, यह एक विवाद का विषय है। 'जागरण' में कविवर निराला जी का चरित्र पर एक लेख प्रकाशित हुआ था। उसमें उन्होंने लिखा था—

'कालिदास, श्रीहर्ष, शेक्सपीयर, वायरन, उमरखय्याम, रवीन्द्रनाथ आदि कवि काव्य में बड़े चरित्रवान हैं या असच्चरित्र ? इनकी कथाओं से हमें क्या मिलता है ? इनका चुम्बनालिंगन काव्य क्यों बड़े-बड़े लोग पीते रहते हैं ? यह वमन पीना बन्द करा दीजिये। 'घूँघट के पट खोल री, तोहें राम मिलेंगे—यह क्या है ? क्यों महात्मा जी इसे गाते-गवाते हैं ? पाप अगर नीचे की तरफ जाता है, तो नीचे क्या है—अधः ब्रह्म नही ?'

मेरा कवि सदा निरपराध है। मैं क्या कहूँ, वह क्या क्या करता है ?

प्रसाद जी ने जागरण के अग्रलेख में लिखा था—'हाँ, 'अपवित्रता, असत् और दुश्चरित्र कला का उद्देश्य न होना चाहिये। यदि कोई कलाकार

चारित्रिक पतन के कारण अपने व्यक्तित्व को नष्ट करके भी कला में कल्याणमयी सृष्टि कर सकता है, तो उसका विशेषाधिकार मानते हुए प्रायः लोग देखे जाते हैं। कालिदास आदि के सम्बन्ध में ऐसा ही कहा जा सकता है किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि कलाकार को कुचरित्र होना ही चाहिये। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि कलाकार की कसौटी उसकी कला है, न कि उसका व्यक्तित्व। वाल्मीकि और व्यास का आदर्श देखते हुए तो यह कहना पड़ता है कि बिना जले हुए, विदग्ध साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती, और तब कलाकार अपनी कला में व्यक्तित्व को खो कर कला के ही रूप में प्रतिष्ठित होता है। उसे जनता का सम्मान मिलता ही है, चाहे आज मिले या हज़ारों वर्ष बाद।'

अतएव यह ठीक ही है कि कला को, लेखक को चरित्र की कसौटी पर न कसना चाहिये। यदि संसार के महान् लेखकों का चरित्र अन्वेषण किया जाय तो अधिकांश असचरित्र और विलासी प्रमाणित होंगे। संसार के साहित्य पर अमरता की छाप डालने वाला, फ्रेंच कलाकार विक्टर ह्यूगो का ही चरित्र लीजिये। उन्नसवीं-शताब्दी में विश्व-साहित्य उसके चरणों पर नत-मस्तक हो गया था। उसने जिस साहित्य का निर्माण किया, वह आज तक हिमाचल की तरह अटल है। किन्तु व्यक्तिगत जीवन उसका दूसरा ही था। अपनी पत्नी एडिली और प्रेयसी जूलियट के होते हुए भी वह एक यहूदी अभिनेत्री की ओर आकर्षित हुआ। उन दिनों फ्रांस में इस तरह के अपराधी के लिए बड़ा कठोर दंड नियत था। विक्टर ह्यूगो और यहूदी नटी दोनों ही जेलखाने की हवा खाते, लेकिन विक्टर स्वयं 'हाउस ऑफ पियर्स' का मेम्बर था। इसलिए कुछ न हो सका। कुछ लोगों का तो यह कहना है कि स्वयं बादशाह लुई फ़िलिप ने इस मामले को शान्त किया।

प्रसाद जी की अल्हड़ जवानी में भी एक घटना ऐसी ही घटी थी। यह मुझे बाद में पता लगा जब १३ फरवरी १९३६ ई० को मैंने

उनसे पूछा—'आप की रचनाओं में प्रेम का एक उज्ज्वल रहस्य छिपा हुआ है, लेकिन मुझे इतने दिनों में भी आप ने यह नहीं बतलाया कि आपकी वह अज्ञात प्रेयसी कौन थी ?'

उन्होंने जो कुछ उत्तर दिया उसके पश्चात् फिर इस सम्बन्ध में मैंने उनसे कुछ नहीं पूछा।

प्रसाद जी का व्यायाम की ओर बचपन से ही अभ्यास था। वह एक हजार बैठकी और पाँच सौ दंड अपनी जवानी में प्रति दिन करते थे। उन्हें कसरत करानेवाला शिक्षक उनसे बाँह करने में थक जाता था। दो एक बार कुश्ती में भी उन्होंने उस कला के विशेषज्ञों को परास्त किया था। इससे उनके बड़े भाई की प्रसन्नता बढ़ गई थी। अपनी खुराक के बारे में प्रसाद जी स्वयं कहते थे कि फल, दूध और घी के अतिरिक्त वह आध सेर बादाम प्रति दिन खाते थे।

प्रसाद जी का व्यक्तित्व देखने से ही विशाल मालुम पड़ता था। ललाट की तेजस्वीता, आँखों की गम्भीरता और बातों की मधुरता उनकी विशेषता थी।

प्रसाद जी का मध्यम श्रेणी का क़द था। गौर वर्ण, गोल मुँह, दाँत सब एक पंक्ति में—हँसने में बहुत स्वाभाविक मालुम पड़ते थे। जवानी में तो ढाका के मलमल का कुरता और शान्तिपुरी धोती पहनते थे, लेकिन बाद में खद्दर का भी उपयोग करते रहे। जाड़े में सुँघनी रंग के पट्टू का कुरता अथवा सकरपारे की सींयन का रुईदार ओवरकोट पहनते थे। आँखों पर चश्मा और हाथ में डंडा—प्रसाद जी का व्यक्तित्व बहुत ही आकर्षक था।

उनकी स्पष्टवादिता से कभी कभी कुछ लोगों को हताश भी होना पड़ता था। जब किसी नवीन पत्र-पत्रिका के प्रकाशन की योजना लेकर उनके सम्मुख कोई आता तो स्पष्ट शब्दों में उसकी असफल-

ताओं का निर्देश वह करते। उनका विश्वास था कि अभी वह युग नहीं आया है कि हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ आर्थिक दृष्टि से सफलता-पूर्वक जीवित रह सकें। प्रसाद जी की ऐसी बातों से प्रायः लोग निराश हो जाते थे।

प्रसाद जी पत्र-व्यवहार से बहुत हिचकते थे। कुछ विशेष व्यक्तिओं को छोड़ कर बहुत कम लोग ऐसे होंगे जिन्हें प्रसाद जी की लेखनी से उत्तर मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। उनकी रचनाएँ सम्पादकों के पास प्रायः मैं ही भेजा करता था। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह अपनी लेखनी को विशेष महत्व देते थे अथवा आत्माभिमान के कारण ऐसा करते थे। वास्तव में बात यह थी कि कोई उनके पत्रों का दुरुपयोग न करे।

प्रसाद जी ने अपने जीवन में पुरस्कार रूप में एक पैसा भी किसी पत्र-पत्रिका से नहीं लिया। वह निःस्वार्थ भाव से साहित्य-सेवा करते रहे। हिन्दुस्तानी-एकेडमी से ५००) का और काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से २००) पुरस्कार उन्हें मिला था। यह ७००) भी उन्होंने काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को अपने भाई के स्मारक स्वरूप दान दे दिया।

प्रसाद जी के जीवन में यह एक नोट करने की बात है कि उन्होंने किसी कवि-सम्मेलन अथवा सभा का सभापति होना कभी स्वीकार नहीं किया। कवि-सम्मेलन में यदि कभी जाते भी तो अपनी कविता सुनाना उन्हें पसन्द नहीं था। बहुत आग्रह करने पर अपनी लिखी पुस्तक में से बैठे-बैठे कुछ पढ़ देते थे। जीवन में पहली बार काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा की ओर से कोषोत्सव के अवसर पर उन्होंने खड़े होकर जनता के सन्मुख 'नारी और लज्जा' कविता पढ़ी थी। वाह-वाह की पुकार मच गई। सचमुच प्रसाद जी ने इतने सुन्दर ढंग से सुनाया था कि सभी मुग्ध हो गये थे।

वड़े स्वाभाविक स्वर में वह कविता पढ़ते थे। 'आँसू' की रचना के वाद उनके पढ़ने की शैली में भी कुछ परिवर्तन हुआ। आँसू की पंक्तियों पर वह स्वयं मुग्ध थे। मेरी धारणा है कि आँसू कामायनी महाकाव्य का अंकुर है। प्रसाद जी महाकाव्य में ही आँसू को सम्मिलित करना चाहते थे, लेकिन वाद में उनका विचार बदल गया।

प्रसाद जी वड़े अध्ययनशील थे। प्रति दिन नियमित रूप से संस्कृत की पौराणिक और ऐतिहासिक पुस्तकों के अध्ययन में वह ५-६ घंटे व्यतीत किया करते थे। यही कारण था कि विद्वानों को किसी जटिल विषय पर उनसे वातें करके सन्तोष होता था।

दिसम्बर १९३६ ई० तक प्रसाद जी कुछ साहित्यिक कार्य करने के लिये निश्चिन्त हो सके थे। सन् १९३१ से लेकर ३६ तक अन्य फुटकर कविता, कहानी और लेखों को छोड़कर प्रसाद जी ने केवल ध्रुवस्वामिनी नाटक, कामायनी महाकाव्य और इरावती अधूरा उपन्यास ही लिखा। इन सात वर्षों में पारिवारिक और आर्थिक समस्याओं के कारण प्रसाद जी प्रायः चिन्तित दिखलाई पड़े। कामायनी के साथ उन्हें कठोर तपस्या करनी पड़ी थी।

जिस दिन कामायनी समाप्त हुई, उनके चेहरे पर एक अपूर्व शान्ति विराज रही थी।

मैंने कहा—'आपने हिन्दी-साहित्य के भंडार में सब कुछ भरा है, उसके प्रत्येक अंग की पूर्ति की है।'

वे मौन थे। केवल इतना ही कहा—'कामायनी लिखकर मुझे सन्तोष है।'

लखनऊ-प्रदर्शिनी से लौट मैं कर आया था। उन्होंने कहा—मैं भी लखनऊ जाना चाहता हूँ।'

मैंने कहा—'अवश्य जाइये, परिवर्तन से दिल बहलाव हो जायगा'

इसके बाद लखनऊ से जब वे लौटे तो मलीन से दिखलाई पड़े। २८ जनवरी, सन् ३७ ई० से उन्हें ज्वर आने लगा। हम लोगों ने समझा, साधारण ज्वर है, ठीक हो जायगा। २२ फरवरी को उनके कफ की जॉच कराई गई, तो मालुम हुआ कि उन्हे राजयक्ष्मा हो गया है।

इस रोग के परिणाम से प्रसाद जी भलीभाँति परिचित थे। उनकी पूर्व पत्नी का देहान्त भी इसी रोग के कारण हुआ था। उनकी बातों में जीवन के प्रति उदासीनता दिखलाई पड़ने लगी।

मैं प्रतिदिन उनसे मिलने जाया करता था। घंटों बैठ कर इधर-उधर की बातें करता, जिसमें उनका मन बहला रहे। कभी एक दिन कुछ अच्छे हो जाते, फिर कष्ट बढ़ जाता। कफ काफी निकलने लगा था। शरीर शिथिल होता जा रहा था। प्रायः सभी का कहना था कि परिवर्तन के लिये किसी पहाड़ अथवा सेनोटोरियम में प्रसाद जी को ले जाना चाहिये। लेकिन उन्होंने इसको स्वीकार नही किया। वह काशी छोड़कर कही बाहर नहीं जाना चाहते थे।

प्रसाद जी में एक बात और विशेष थी कि वह जो निश्चय कर लेते फिर उसी पर अटल रहते, किसी के समझाने का कोई असर न पड़ता था। हम लोगो ने यहाँ तक कहा कि यदि आप बाहर नहीं जाना चाहते तो जाने दीजिए, यहॉ सारनाथ के पास किसी बाग में ही चल कर कुछ दिन रहिए। डाक्टरों का कहना है कि इस रोग में सब से बड़ी औषधि वायु-परिवर्तन ही है।

सारनाथ के पास बगीचा ठीक किया गया। बहुत कुछ समझाने पर किसी तरह उन्होंने वहाँ चलना स्वीकार कर लिया। सब सामान लारी द्वारा वहाँ पहुँचाया गया, किन्तु अन्त में वह वहाँ न जा सके।

मैं जब पहुँचा तो बड़े करुण शब्दों से उन्होंने मुझसे कहा—'जो होना होगा वह यहीं होगा ऐसी अवस्था में अब घर से बाहर जाने में और भी कष्ट होगा।'

मैंने कहा—'जैसी इच्छा, जाने दीजिये।,

प्रसाद जी धार्मिक मनोवृत्ति के पुरुष थे। वह शिव के उपासक थे। आचार-व्यवहार में भी वह आस्तिक थे। किसी के हाथ की कच्ची रसोई खाने तथा जूता पहन कर पानी आदि पीने से परहेज रखने में भी वह दृढ़ थे। अपने अन्तिम समय तक जब पुजारी प्रति दिन की तरह पूजा कर के शिव का चरणामृत, बेलपत्र और फूल लाता तो वह उसे श्रद्धा से आँखों और मस्तक पर लगा लेते। मैंने सदैव उन्हें ऐसा ही देखा।

...इसी तरह अच्छे और बुरे दिन सुख-दुःख की कसौटी पर अपनी रेखायें अंकित कर जाते थे।

मैं कहता—'बरसाती दिन बीत जाने पर सर्दी में आपका स्वास्थ्य सुधर जायगा।'

वे कहते—'देखो क्या होता है? कमजोरी बढ़ रही है, शरीर शिथिल होता जा रहा है।'

उनकी ऐसी अवस्था देख कर हृदय पर बड़ा भीषण आघात लगता। फिर भी मैं उन्हें सान्त्वना देने की चेष्टा करता।

आठ-नौ मास तक होम्योपैथिक चिकित्सा ही चलती रही। इसका एक कारण यह था कि प्रसाद जी परहेज़ नहीं करना चाहते थे।

चि० रत्नशंकर ने स्कूल की पढ़ाई छोड़ दी थी। वह प्रसाद जी के सामने से ही कारखाने का कार्य सीखते थे। प्रसाद जी स्वयं उन्हें अपने साथ काम सिखलाते थे।

साहित्यिक कार्यक्रम तो उनका पूर्ण था ही; साथ-ही-साथ पारिवारिक-प्रबन्ध में भी कोई त्रुटि नहीं थी। फिर भी सन्तान की ममता के जाल से वह अलग न हो सके। उनके दार्शनिक विचार और सिद्धान्त स्वयं एक पहेली से बन गये।

अब रोग इतना बढ़ गया था कि डाक्टरों ने उनका किसी से भेंट और बात करना भी बन्द करवा दिया। उनकी ऐसी अवस्था देख कर सभी लोग व्यग्र हुए। सब के अनुरोध पर उन्होंने वैद्यक चिकित्सा स्वीकार की। दो महीने आयुर्वेदीय औषधियों का सेवन चलता रहा। उससे भी कुछ लाभ न हुआ।

अन्त में फिर उसी होम्योपैथिक चिकित्सा पर ही प्रसाद जी, निर्भर रहे।

उनके कैलाशवास के बीस दिन पहिले मैं उन्हें देखने गया था। यही उनसे मेरी अन्तिम भेंट थी। वे पलँग पर पड़े थे। सूखी हड्डियों के ढाँचे पर माँस का एक पतला-सा आवरण मात्र ही रह गया था—मुख कान्तिहीन, पीला-सा, आखें धँसी हुई, उन्हें बात करने में भी बड़ा कष्ट होता था।

बहुत देर चुप रहने के बाद मेरी तरफ देखते हुए हाथों को ऊपर उठा कर उन्होंने कहा—'देखो'!

मैं समीप जा कर उनका हाथ देखने लगा। उस भीषण रोग के साथ ही उन्हें चर्म रोग हो गया था, लेकिन उस समय तक वह अच्छा हो चुका था। कुछ चिह्न मात्र शेष थे।

उस दिन वहाँ से लौटकर मुझे खाना-पीना कुछ भी अच्छा न लगा। मैंने समझ लिया कि अब प्रसाद जी इस दुनियाँ में चंद दिनों के मेहमान हैं।

१४ नवम्बर एकादशी को संध्या से ही उनकी अवस्था अधिक खराब हो गई थी। साँस लेने में भी बहुत कष्ट होने लगा था। रात्रि में उपस्थित डाक्टरों ने अंतिम घड़ी का संकेत करते हुए कहा—'जो कुछ कहना-सुनना हो कह-सुन लीजिए।'

उन्होंने इतना ही कहा—'साँस लेने में बहुत कष्ट हो रहा है; केवल उसे दूर करने की दवा दीजिये।'

१५ नवम्बर १६३७ ई० को तड़के ही नौकर ने आकर द्वार खट-खटाया। मेरे पूछने पर उसने कहा—'बाबू साहब का स्वर्गवास हो गया।'

मैं अत्यन्त कातर होकर दौड़ा हुआ वहाँ गया। उस दिन साढ़े चार वजे उनके प्राण निकले थे। सुना था, अंत समय तक उनका ज्ञान बरावर बना रहा।

पूर्वजों की प्रथा के अनुसार हरिश्चन्द्र-घाट पर उनकी अंत्येष्टि-क्रिया की गई।

स्मशान पर उनकी चिता का वह चित्र आँखों से आज तक नहीं हट सका है। पता नहीं क्यों? शायद इसीलिए कि वह एक कठोर सत्य है!

प्रसाद के उपन्यास

अँगरेज़ी-कोष के अनुसार उपन्यास का अर्थ है, वास्तविक जीवन की कहानी अथवा आश्चर्यमय कहानी।

आरम्भ में साहसिक क्रियाओं का वर्णन ही कथा का मुख्य उद्देश्य माना जाता था। ऐसे उपन्यास में घटनाओं का क्रम बनाकर नायक आपत्ति और उलझनों के साथ अपने कार्य में प्रविष्ट होता था। कुछ अन्य चरित्रों को भी उपस्थित कर के नायक के कार्य में सहायता पहुँचाई जाती थी। ऐसे उपन्यासों में दुष्ट और नीच प्रवृत्ति के चरित्रों की मृत्यु और अंत में नायक की विजय सफलतापूर्वक दिखलाई जाती थी। यह उन उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य था। विदेशों में उपन्यास की यही प्रणाली प्रचलित थी, किन्तु भारतीय-कथा-साहित्य पौराणिक और धार्मिक डोर में बँधा हुआ था। आगे चलकर अन्य देशों की भाँति उसमें भी परिवर्तन की लहर उठने लगी। यह एक निश्चित सत्य है कि संसार के साहित्य में फ्रेंच-साहित्य ही अगुआ है। जिस तरह साहित्य व संगीत में उन्होंने जीवन दिया है, वैसे ही १७ वीं शताब्दी के बाद उपन्यासों का क्रम भी बदला। साहसिक क्रिया ने आत्मा का रूप ग्रहण किया। मनुष्य के सुख-दुःख की पहेली, सामाजिक जटिलता और जीवन के भिन्न-भिन्न अंग ही उपन्यासों के विषय बने। १९ वीं शताब्दी में फ्रेंच-साहित्य में ह्यूगो, बालज़क फ़्लॉबर, मोपासाँ इत्यादि महारथियों ने उपन्यास-कला को उच्च-शिखर पर पहुँचा

दिया था। संसार के साहित्य पर उनका इतना प्रभाव पड़ा कि अन्य देशों के उपन्यासों का क्रम भी बदला। योरोप का उपन्यास-साहित्य उनका ऋणी है, इसमें कोई संदेह नहीं।

इधर २० वीं शताब्दी में हमारे हिन्दी-कथा-साहित्य के भाग्य ने भी पलटा खाया। अब लखलखा सुँघाकर बेहोश करने और कमरबन्द फेंककर ऊपर चढ़नेवाले, गली और सड़क पर भटकने वाले पात्रों के लिए विस्तृत क्षेत्र दिखलाई पड़ा, और हमें प्रेमचन्द जी के इस मत से सहमत हो कर आगे बढ़ना पड़ा—

'हर्ष और शोक, प्रेम और अनुराग, ईर्षा और द्वेष मनुष्य-मात्र में व्यापक हैं। हमें केवल हृदय के उन तारों पर चोट लगानी चाहिए, जिनकी झंकार से पाठकों के हृदय पर भी वैसा ही प्रभाव हो। सफल उपन्यासकार का सब से बड़ा लक्षण यह है कि वह अपने पाठकों के हृदय में उन्हीं भावों को जाग्रत् कर दे, जो उसके पात्रों में हो।'

आधुनिक चरित्र-प्रधान हिन्दी-उपन्यासों का ढाँचा खड़ा करने का एकमात्र श्रेय प्रेमचन्द जी को ही है। जो उपन्यास साहसिक क्रिया से आरम्भ होता है, उसमें कथानक के आधार पर ही पात्रों का चरित्र बनाया जाता है, किन्तु जो केवल चरित्रों के बल पर ही चलता है, उस में पात्रों के चरित्र के अनुसार ही कथानक बनता है। चरित्र-प्रधान उपन्यासों में कथानक को इसलिए सरल रखा जाता है और उन पर कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। प्रेमचन्दजी ने जासूसी, तिलिस्मी उपन्यासों के युग में चरित-प्रधान उपन्यासों को उपस्थित किया; अतएव वह आज भी माननीय हैं और आनेवाले युग में उनका ऐतिहासिक महत्त्व रहेगा, इसमें भी कोई संदेह नहीं। 'सेवासदन' में भी साधारण कथानक के आधार पर पात्रों के चरित्रों का निर्माण हुआ है।

चरित्र-प्रधान उपन्यासों में लेखक अपने सिद्धान्त के द्वारा उन चरित्रों को चुनकर एकत्रित करता है, जिनके द्वारा वह अपना संदेश

पाठकों के मस्तिष्क में प्रविष्ट करता है। अतएव भिन्न-भिन्न तर्क और सिद्धान्त के कारण सब चरित-प्रधान उपन्यासों का क्रम एक-सा नहीं रहता। कुछ लेखक साहित्य और समाज में नग्न चित्रण और कुचरित्रों के साथ सहानुभूति न रखने के कारण आदर्शवादी कहलाये हैं और अन्य नग्न वर्णन द्वारा, जीवन को सत्य के सम्मुख रखकर, स्पष्ट चित्रण के कारण यथार्थवादी माने जाते हैं।

साहित्य का क्रमशः विकास होने पर आदर्शवाद और यथार्थवाद का झगड़ा भी फ्रांस के लेखकों में सब से पहले उठा। एक समूह आदर्शवाद का पक्षपाती बना, दूसरा दल यथार्थवाद के दृष्टिकोण का। यथार्थवाद का समर्थन करने वालों के मुखिया गुस्तेव फ़्लॉबर थे। फ़्लॉबर मोपासाँ के गुरु और प्रकांड विद्वान् थे। अपनी योग्यता और अध्ययन के कारण अपने जीवन में ही उन्हें फ्रेंच यथार्थवादी साहित्य का कर्णधार माना जाता था। 'मादाम बोवरी' इस श्रेणी का पहला उपन्यास है।

१६ वीं शताब्दी का आदर्शवाद और यथार्थवाद का यह झगड़ा आज तक किसी देश में नहीं सुलझ सका। अतएव इस सम्बन्ध में फ़्लॉबर और प्रसिद्ध उपन्यास-लेखिका जार्ज सैंड में परस्पर जो पत्र-व्यवहार हुआ, उसका अंश यहाँ उपस्थित कर के हम इस विषय को स्पष्ट करना चाहते हैं। यह अंश यथार्थवाद के प्रत्येक अंग पर प्रकाश नहीं डालता, लेकिन एक ओर फ्लॉबर के यथार्थवादी मत का समर्थन है और दूसरी ओर जार्ज सैंड के आदर्शवाद का तर्क मनोरंजक होते हुए भी उपयोगी और प्रामाणिक है।

'मैं अपने हृदय की कोई बात लिखने में अजेय अनिच्छा का अनुभव करता हूँ। मैं तो यहाँ तक पाता हूँ कि किसी उपन्यासकार को किसी विषय पर अपना विचार प्रकट करने का अधिकार ही नहीं है। क्या ईश्वर ने अपना विचार प्रकट किया है?'—फ़्लॉबर

'क्या लेखों में अपने हृदय की बात कोई न अंकित करे ? किन्तु मुझे तो ऐसा आभास होता है कि इसे छोड़ कर और कुछ भी नही अंकित कर सकता। क्या कोई अपने हृदय को अपने मस्तिष्क से पृथक् कर सकता है ? क्या कोई मनुष्य अपने को इस तरह से विभाजित कर सकता है ? अन्त में, मुझे तो किसी का अपने कार्य में तन्मय न हो जाना ऐसा असंभव-सा मालुम देता है, जैसा कि आँख के अतिरिक्त किसी से विचार करना।' —जार्ज सैंड

'हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं। मैं सोचता हूँ कि वह महान् कला अवश्य ही वैज्ञानिक और अव्यक्तिगत होनी चाहिए। आपको मस्तिष्क के बल पर स्वयं अपने को पात्रों में परिवर्तन करना चाहिए, न कि उनको ही अपनी कक्षा में खीच लावें।' —फ़्लॉबर

'लेकिन चित्रित पात्रों के विषय मे अपनी सम्मति छिपाये रहना और परिणामस्वरूप पाठक का उन विचारों से अपरिचित रखना, जो उसे उनके विषय में स्थिर करने चाहिए, उन्हें न समझने देने की इच्छा करना है; और उसी क्षण पाठक भी आपको छोड़ देता है। पाठक की सर्वोपरि इच्छा हमारे विचारों में प्रवेश करने की है और इसी का आप तिरस्कारपूर्वक निषेध करते हैं।'—जार्ज सैंड

'जिन पात्रों का परिचय देता हूँ, उनके विषय में अपनी सम्मति प्रकट करने का अपना अधिकार ही नहीं समझता। यदि पाठक एक पुस्तक को शिक्षा को नहीं निकाल पाता तो वह या तो स्वयं अल्पबुद्धि है अथवा पुस्तक यथार्थ से परे है; क्योंकि यदि कोई वस्तु किसी क्षण सत्य है तो वह अच्छी है। अश्लील पुस्तकें तभी बुरी हैं, जब उनमें सत्यता नहीं है'—फ़्लॉबर

फ़्लॉबर के तर्क की व्यापकता इसी सीमा तक है कि आज कल लेखक के व्यक्तित्व का, आवश्यकता से अधिक, स्पष्टीकरण बुरी दृष्टि से देखा जाता है। तुले हुए वाक्य और उचित शब्दों की उसकी उत्कट इच्छा ने उसके यथार्थ अनुकरण के तुल्य सौभाग्य न प्राप्त किया। उसने यह अनुभव किया कि पूर्ण प्रामाणिकता के विचार से यह असम्भव है;

और जब सौन्दर्य तथा यथार्थता का विरोध हुआ तो कहाँ त्याग आवश्यक है, इसके विषय में उसका मस्तिष्क साफ़ था। यह वह मनुष्य था, जिसने 'सलैम्बो' के लिए समस्त पुस्तकालयों को छान डाला था, 'बुनवार्ड एट् पे कुचेट' के लिए १५०० पुस्तकों से परामर्श लिया था और जो धर्म-विरोधी की तरह लिख सकता था कि 'मैं विशिष्ट वर्णन, स्थानीय ज्ञान, संक्षेप में ऐतिहासिक तथा वस्तुओं के सत्य परिज्ञान को बहुत ही अपरिज्ञान समझता हूँ। मैं सर्वोपरि सौन्दर्य का अनुसरण कर रहा हूँ, जिससे कि मेरे मित्र साधारण ही अनुरागी हैं।'

विश्व की समस्त उन्नत भाषाओं के साहित्य में फ्लॉबर और जार्ज सैण्ड जैसा मत रखने वाले लेखक हुए हैं और होंगे। अतएव इन्हीं भावों को यदि हम अपने हिन्दी-साहित्य में टटोलें तो दिखलाई पड़ेगा—

प्रेमचन्द जी लिखते हैं—'इस विषय में अभी तक मतभेद है कि उपन्यासकार को मानवीय दुर्बलताओं और कुवासनाओं, उसकी कमजोरियों और अपकीर्तियों का विशद वर्णन वांछनीय है या नहीं, मगर इसमें कोई संदेह नहीं कि जो लेखक अपने को इन्हीं विषयों में बाँध लेता है, वह कभी उस कलाविद् की महत्ता को नहीं पा सकता, जीवन-संग्राम में जो एक मनुष्य की आन्तरिक दशा सत् और असत् के संघर्ष और अन्त में सत्य की विजय को धार्मिक ढंग से दर्शाता है। यथार्थवाद का यह आशय नहीं है कि हम अपनी दृष्टि को अन्धकार की ओर ही केन्द्रित कर दें। अन्धकार में मनुष्य को अन्धकार के सिवा सूझ ही क्या सकता है? बेशक चुटकियाँ लेना, यहाँ तक कि नश्तर लगाना भी कभी-कभी आवश्यक होता है, लेकिन दैहिक व्यथा चाहे नश्तर से दूर हो जाय, पर मानसिक व्यथा सहानुभूति और उदारता से ही शान्त हो सकती है। किसी को नीच समझकर हम उसे ऊँचा नहीं बना सकते; बल्कि उसे और नीचे गिरा देंगे। कायर यह कहने से बहादुर न हो जायगा कि तुम कायर हो। हमें यह दिखलाना पड़ेगा कि

उसमें साहस, बल और धैर्य सब कुछ है, केवल उसे जगाने की जरूरत है। साहित्य का संबंध सत्य और सुन्दर से है, यह हमें न भूलना चाहिए।*

दूसरी ओर यथार्थवाद के पक्ष की ओर से कविवर निराला जी का यह वक्तव्य भी प्रेमचन्द जी द्वारा संपादित पत्र में ही प्रकाशित हुआ था। यह भी विचारणीय है—

'पूर्व आदर्श की महत्ता तक न वर्तमान समाज ही पहुँच सका है और न उसके चित्रित करने वाले चित्रकार। स्वप्न की अस्पष्ट रेखा की तरह, उसके खींचे हुए प्राचीन बड़े आदर्श के चित्र, वर्तमान जाग्रति के प्रकाश में छाया मूर्तियों में ही रह गये हैं, जिनके साहित्यिक अस्तित्व अनस्तित्त्व ही प्रबल हैं। जब तक किसी बहते हुए प्रवाह के प्रतिकूल किसी सत्य की बुनियाद पर ठहर कर कोई उपन्यासकार नई-नई रचनाओं के चित्र नहीं दिखलाता, तब तक न तो उसे साहित्यिक शक्ति ही प्राप्त होती है और न समाज को नवीन प्रवाहमान जीवन। तभी रचना-विशेष शक्ति तथा सौन्दर्य से पुष्ट हो कर नवीनता का आवाहन करती है, कला भी साहित्य को नवीन ऐश्वर्य से अलंकृत करती है, कलाकार कला से अधिक महत्त्व प्राप्त करता है। अथवा वह कला का अधिकारी समझा जाता है, न कि किसी प्रवाह के साथ बहने वाला केवल एक अनुसरणकारी।' †

प्रेमचन्द जी हिन्दी के सब से बड़े औपन्यासिक हैं, पर पूर्व कथन के अनुसार युग को नये साँचे में ढाल देने वाली रचनाएँ उन्होंने नहीं दीं, युग के अनुकूल रचनाएँ की हैं। प्रायः आदर्श को नहीं छोड़ा, यद्यपि उनके पात्र कभी-कभी प्राकृतिक सत्य की पुष्टि अपनी उच्छृंखलताओं के भीतर से कर जाते हैं, तथापि रचना में उनके आदर्शवाद की ही विजय रहती है। उनके सितार में वही बोल विशेष रूप से स्पष्ट सुन पड़ता है।' ‡

* उपन्यास का विषय, 'हंस', मार्च १६३० ई०।
† हिन्दी-साहित्य में उपन्यास, 'हंस' जुलाई, १६३० ई०।
‡ जीवन में साहित्य का स्थान, 'हंस', अप्रैल, १६३२ ई०।

अपने पूर्व लेख के प्रकाशित होने के दो वर्ष बाद प्रेमचन्द जी फिर अपने आदर्शवादी मत पर टिप्पणी करते हैं—

'साधारणतया युवा अवस्था में हमारी निगाह पहले विध्वंस करने की ओर से उठ जाती है। हम सुधार करने की धुन में अंधाधुन्ध शर चलाना शुरू करते हैं। खुदाई फ़ौजदार बन जाते हैं। तुरन्त आँख काले धब्बों की ओर पहुँच जाती है। यथार्थवाद के प्रवाह में बहने लगते हैं। बुराइयों के नग्न चित्र खींचने मे कला की कृतकार्यता समझते हैं।'......

'साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए। भावों का परिमार्जन भी उतना ही वांछनीय है। जब तक हमारे साहित्यसेवी इस आदर्श तक न पहुँचेंगे, तब तक हमारे साहित्य से मंगल की आशा नहीं की जा सकती। अमर साहित्य के निर्माता विलासी प्रकृति के मनुष्य नहीं थे।'

प्रेमचन्द जी का एक उद्धरण और देकर हम अपने लक्ष्य पर आना चाहते हैं—

'नवीन साहित्य अब आदर्श चरित्रों की कल्पना नहीं करता। उसके चरित्र अब उस श्रेणी से लिये जाते हैं, जिन्हें कोई छूना भी पसन्द न करेगा। मैक्सिम गोर्की, अनातोले फ्रांस, रोमाँ रोलाँ, एच्० जी वेल्स आदि योरोप के, स्वर्गीय रतननाथ सरशार, शरत्चन्द्र आदि भारत के, ये सभी हमारे आनन्द के क्षेत्र को फैला रहे हैं, उसे मानसरोवर और कैलाश की चोटियों से उतार कर हमारे गली-कूचों में खड़ा कर रहे हैं। वे किसी शराबी को, किसी जुआरी को, किसी विषयी को देखकर घृणा से मुंह नहीं फेर लेते। उनकी मानवता पतितों में वे खूबियाँ, उससे कहीं बड़ी मात्रा में देखती हैं, जो धर्मध्वजाधारियों में और पवित्रता के पुजारियों में नहीं मिलतीं। बुरे आदमी को भला समझकर उससे प्रेम और आदर का व्यवहार करके उसको अच्छा बना देने की जितनी संभावना है, उतनी उससे घृणा करके, उसका बहिष्कार करके नहीं। मनुष्य में जो कुछ सुन्दर है, विशाल है,

आदरणीय है, आनन्दप्रद है, साहित्य उसी की मूर्ति है। उसकी गोद में उसे आश्रय मिलना चाहिए, जो निराश्रय है, जो पतित है, जो अनादृत है'।*

पाश्चात्य देशों के यथार्थवादी लेखकों का प्रभाव प्रेमचन्द जी के ऊपर अवश्य पड़ा है। इसी लिए उनका आदर्शवाद कुछ ढीला पड़ गया है। वह पतित और बुरे आदमियों के साथ सहानुभूति का रास्ता खोलते हैं। किन्तु आदर्शवाद का पक्षपाती बुरे चरित्रों के प्रति सहानुभूति रखते हुए उनका अन्त कैसे बुरा और घृणित करेगा। आदर्शवाद में बुरा तो दूध की मक्खी की तरह अलग होता है। बुरे चरित्रों की इसी लिए सृष्टि भी की जाती है कि अच्छे चरित्रों के विकास में सहायता मिले; रावण और राम की तरह। अतएव प्रेमचन्द जी का यह सिद्धान्त कहाँ तक टिक सकता है, यह नहीं कहा जा सकता।

ऊपर के उद्धृत अंशों से यह प्रकट होता है कि प्रेमचन्द जी न तो पूर्ण आदर्शवादी ही ठहरते हैं और न यथार्थवादी ही। इसका पहला कारण यह है कि भारतीय-हिन्दू-समाज में उत्पन्न लेखक कैसे अपने आदर्शवाद के अस्तित्व को समूल नष्ट कर दे? जिस वायु-मंडल में अथवा वातावरण में जो उत्पन्न होता है, उसी के अनुसार उसकी प्रतिभा का विकास होता है। समाज में चाहे जितनी भ्रष्टता हो, लेकिन उसका नग्न और स्पष्ट चित्रण साहित्य पर आघात पहुँचाता है, यह सभी विचारशील व्यक्तियों की राय है। यही कारण है कि भारतीय लेखक शरत्, प्रेमचन्द दोनों ही न तो यथार्थवादी लेखक माने जा सकते हैं और न पूर्ण आदर्शवादी ही। विदेशी चूल्हे पर भारतीयता की डेग चढ़ाकर यह आदर्शवाद और यथार्थवाद की जो खिचड़ी पकाई गई है, वह सचमुच

---

* साहित्य की प्रगति 'हंस', मार्च १९३३ ई०।

जनता को खूब पसन्द आई है, और सफल उपन्यासों के लिए जैसे यही एक मार्ग खुल गया है।

फ्रांस के बालज़क या फ़्लाबेर जैसे महान् लेखकों की, जिन्हें हम यथार्थवादी की श्रेणी में मानते हैं, रचनाओं में कुछ अंशों में वे चित्र दिखलाई पड़ते हैं। उसी तरह भावुक रोमांटिक लेखक ह्यूगो में भी यथार्थवादी चित्रण की पूर्ण क्षमता प्रकट होती है। अतएव यह भी नहीं कहा जा सकता कि इस खिचड़ी-प्रथा के प्रेमी विदेशी उपन्यास-लेखक नहीं थे। प्रेमचन्द जी के शब्दों में आदर्शवाद की पर्याप्त परिभाषा हो चुकी है। अब प्रसाद जी के मतानुसार यथार्थ-वाद की व्याख्या हम दे रहे हैं—

'यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टि-पात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख।......इस यथार्थवादिता में अभाव, पतन और वेदना के अंश प्रचुरता से होते हैं।

'आरम्भ मे जिस आधार पर साहित्यिक न्याय की स्थापना होती है, जिसमें राम की तरह आचरण करने के लिये कहा जाता है, रावण की तरह नहीं—उसमें रावण की पराजय निश्चित है। साहित्य में ऐसे प्रतिद्वन्द्वी पात्र का पतन आदर्शवाद के स्तम्भ में किया जाता है, परन्तु यथार्थवादियों के यहाँ कदाचित् यह भी माना जाता है कि मनुष्य में दुर्बलताएँ होती ही हैं, और वास्तविक चित्रों में पतन का भी उल्लेख आवश्यक है। फिर पतन के मुख्य कारण क्षुद्रता और निन्दनीयता भी, जो सामाजिक रूढ़ियों द्वारा निर्धारित रहती हैं, अपनी सत्ता बना कर दूसरे रूप में अवतरित होती हैं।

'वेदना से प्रेरित होकर जन-साधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है। इस दशा में

प्रायः सिद्धान्त बन जाता है कि हमारे दुःखों और कष्टों के कारण प्रचलित नियम और प्राचीन सामाजिक रूढ़ियाँ हैं। फिर तो अपराधों के मनोवैज्ञानिक विवेचन के द्वारा यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न होता है कि वे सब समाज के कृत्रिम पाप हैं। अपराधियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न कर के सामाजिक परिवर्तन के सुधार का आरम्भ साहित्य में होने लगता है।···

'यथार्थवाद क्षुद्रों का ही नहीं, अपितु महानों का भी है। वस्तुतः यथार्थवाद का मूल भाव है—वेदना। जब सामूहिक चेतना छिन्न-भिन्न होकर पीड़ित होने लगा है, तब वेदना की विवृति आवश्यक हो जाती है। कुछ लोग कहते हैं कि साहित्यकार को आदर्शवादी होना ही चाहिए और सिद्धांत से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए, यही आदेश करता है, और यथार्थवादी सिद्धांत से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता; क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था। किन्तु साहित्यकार न तो इतिहासकर्ता है और न धर्मशास्त्र-प्रणेता। इन दोनों के कर्तव्य स्वतन्त्र हैं। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य, समाज की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामंजय स्थिर करता है। दुःखदग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है। इसलिए असत्य अघटित घटना पर कल्पना की वाणी महत्वपूर्ण स्थान लेती है, जो निजी सौंदर्य के कारण सत्य-पद पर प्रतिष्ठित होती है। उसमें विश्व-मंगल की भावना ओत-प्रोत रहती है।'

प्रसाद जी की इस व्याख्या में कितनी गहराई है, यह अध्ययन-शील लेखकों से छिपी न रहेगी। प्रेमचन्द जी जहाँ नश्तर लगाना चाहते हैं, वहाँ घाव अस्पष्ट रहता है। प्रसाद जी उसी बात को कितने अच्छे ढंग से कहते हैं—'साहित्यकार न तो इतिहासकर्ता है और

न धर्मशास्त्र-प्रणेता। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है।'

प्रसाद जी कवि होने के कारण, प्रेमचन्द और शरत् की भाँति आदर्शवाद और यथार्थवाद के मध्यवर्गीय नहीं माने जाते। रहस्य-वादी होने के कारण उनका सिद्धान्त ही अलग है, अतएव इसे और स्पष्ट करने के लिए यहाँ मैं विद्वान आलोचक पं० नन्ददुलारे वाजपेयी का मत दे रहा हूँ—

'प्रसाद जी स्पष्ट ही इन दोनों वादो का विरोध करते हैं। उनका कथन है कि 'सांस्कृतिक केन्द्रों में जिस विकास का आभास दिखाई पड़ता है वह महत्व और लघुत्व के दोनों सीमान्तों के बीच की वस्तु है;' यहाँ महत्व और लघुत्व के दोनों सीमान्तों से प्रसाद जी का तात्पर्य ऐतिहासिक आदर्शवाद और यथार्थवाद के सीमान्तों से है। दार्शनिक सीमान्तों की ओर यहाँ उनकी दृष्टि नहीं है।

इस बीच की वस्तु या मध्यस्थता के निर्देश से वह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि प्रसाद जी सिद्धान्ततः मध्यवर्गीय थे। प्रसाद जी आदर्शवाद और यथार्थवाद की बौद्धिक दार्शनिकता के विरोधी थे। उनके रहस्यवाद या शक्तिसिद्धान्त में दोनों की मूल दुःखात्मकता का भी निषेध है।'

आदर्शवाद और यथार्थवाद के मिश्रण का यह प्रयोग उपयुक्त रीति से समझ जाने पर लाभप्रद और कल्याणकारी होगा, यह संसार के सभी प्रतिष्ठित आलोचकों का मत है। यह विषय घास-लेटी तर्क में सरल है, पर समझने में उतना ही जटिल है। हमारे महान् कलाकार प्रेमचन्द जी भी कभी-कभी भटकने लगते हैं— 'सत्य क्या है और असत्य क्या है; इसका निर्णय हम आज तक नहीं कर सके। एक के लिए जो सत्य है, यह दूसरे के लिए असत्य।'

यथार्थवाद की भूमि पर फ्रांस ने एक तीसरेवाद का आविष्कार किया; जो प्रकृतिवाद के नाम से विख्यात हुआ।

इसके आविष्कारक थे। ज़ोला का यह प्रयोग वर्तमान योरोपीय और अमेरिकन उपन्यासकारों में कितने अंशों में प्रविष्ट हो गया है, यह हमारे अध्ययन की सामग्री है। अभी हमें स्मरण रखना चाहिए कि यहाँ केवल प्रसाद के उपन्यासों का विवरण देना है। लेकिन इसके पहले हम ज़ोला का मत उसके आविष्कार की प्रणाली देखने के लिए अवश्य उत्सुक होंगे।

ज़ोला का मत था—'मैं मनुष्य की प्रकृति का अध्ययन करना चाहता हूँ, न कि चरित्रों का।'

ज़ोला फ्रेंच-साहित्य में नवीनता की आँधी का अग्रदूत बनकर आया था। लेकिन उस युग के फ्रेंच-उपन्यास लेखक लिसैत्रे ने ज़ोला के लिए लिखा है—

'कठोर पशुबुद्धि, तुच्छ लिप्सा, मनुष्य प्रकृति के निकृष्ट और घृणित अंगों के सासारिक प्रेम का निराश कवि।'

अब ज़ोला के सिद्धान्त पर दृष्टिपात कीजिए।

वह लिखता है—"जब प्रमाणित है कि मानवशरीर एक यंत्र है, जिसके चक्र प्रायोगिक के इच्छानुसार प्रगतिमान किये जा सकते हैं, तो हमें मनुष्य के आवेग और बुद्धिपूर्ण क्रियाओं की ओर अग्रसर होना चाहिए। हमारे पास प्रायोगिक रसायन-शास्त्र और पदार्थ-विज्ञान हैं। पहले प्रायोगिक शरीर-विज्ञान रक्खेंगे और उसके बाद ही प्रायोगिक उपन्यास। यह उन्नति वह अंतिम अवस्था है, जो स्वयं प्रभावशालिनी है और जिसका जानना आज भी सरल है। सब का एक ही मत है। यह आवश्यक था कि निर्जीव पदार्थों के निश्चयवाद से अग्रसर हो फिर जीव-पदार्थ के निश्चय-वाद तक पहुँचा जाय; क्योंकि क्लार्ड बर्नर्ड जैसे वैज्ञानिक भी यह प्रमाणित करते हैं कि मानव-शरीर भी नियमित सिद्धान्तों द्वारा शासित है। धोखे से निर्भय हो कर हम उस समय की घोषणा करते हैं, जब कि अपने अवसर पर बुद्धि और विचार के नियम भी बनाये जायँगे। मनुष्य के मस्तिष्क का

और आम सड़क के पत्थर का विधान, एक सिद्धान्त के अनुसार करना चाहिये ।'

विदेशी उपन्यास-साहित्य के ऊपर यथार्थवाद का बहुत प्रभाव पड़ा है और प्रायः उपन्यासकार इसका समर्थन करते चले आये हैं। यथार्थवाद के साथ ही साथ पाश्चात्य उपन्यास-साहित्य में प्रकृतिवाद का उतना ही बोल-बाला रहा है और प्रायः वे एक दूसरे के आश्रित रहे हैं। यहाँ पर प्रकृतिवाद के मूल तत्त्वों पर विवेचना करना आवश्यक है।

उपन्यास-साहित्य में कथानक का एक विशेष स्थान है और कथानक में चरित्र-चित्रण, घटनाओं का क्रम-विकास, परिस्थितियों का उल्लेख इत्यादि भी महत्त्वपूर्ण हैं। घटना-चक्र का विकास तथा इसका अंतिम परिणाम कभी-कभी पात्र के स्वाभाविक कार्यों पर निर्भर करता है और उपन्यासकार पात्र के जीवन का तथा उससे सम्बन्धित घटनाओं का यथार्थ उल्लेख करता है, जिससे घटनाओं का अन्त स्वाभाविक होता है। इस शैली का अनुसरण करने से लेखक को सत्यता से परे नहीं जाना पड़ता। जो वास्तविक घटना-क्रम होता है, उसी का विवेचन लेखक करता है।

कभी-कभी इसके विपरीत दूसरी श्रेणी के जो उपन्यासकार हैं, वे घटनाओं का वास्तविक उल्लेख नहीं करते और परिणाम को पहले ही से अपने मन में स्थिर कर लेते हैं, तब कल्पित घटनाओं द्वारा उस अभीष्ट के अन्त तक पहुँचते हैं। अपने निश्चित् परिणाम को लाने के लिए घटनाक्रम का विवरण, वास्तविक न देकर उलट-फेर कर देते हैं। ऐसे उपन्यास जीवन की सत्य तथा यथार्थ घटनाओं से बहुत दूर रहते हैं। परिणाम प्रमुख हो जाता है और जीवन की घटनाएँ उस पर आश्रित हो जाती हैं। पात्रों का चरित्र-चित्रण

उन काल्पनिक घटनाओं पर अवलम्बित हो जाता है, न कि घटनाएँ पात्र के सहज स्वभाव पर आश्रित रहती हैं।

उस श्रेणी के उपन्यास-लेखक, जो यथार्थ वर्णन में विश्वास रखते हैं, प्रकृति का सहारा लेते हुए घटनाओं तथा उनके क्रम विकास का यथार्थ वर्णन तथा उल्लेख करते हैं। ऐसे उपन्यासकार तथा उपन्यास ही प्रकृतिवादी कहलाते हैं। प्रकृतिवाद का साधारण अर्थ यही होता है।

अब इसको स्पष्ट करने के लिए पाश्चात्य प्रकृतिवादी उपन्यास-कारों का मत और उनके उपन्यासों पर दृष्टि डालना आवश्यक है। प्रकृतिवाद पर ज़ोला के विचारों को प्रायः सभी साहित्यिकों ने स्वीकार किया है।

ज़ोला ने स्पष्ट कहा है—'हम उपन्यासकार मानव-जीवन तथा उनकी मनोवृत्तियों की परीक्षा करने वाले न्यायाध्यक्ष हैं।'

मनुष्य का आचरण उसकी पैतृक शक्तियों तथा जीवन की और अन्य अवस्थाओं पर निर्भर करता है। उपन्यासकार को यह ज्ञात रहता है कि किसी एक निश्चित और पैतृक शक्तिवाला मनुष्य किसी एक अवस्था में निश्चित आचरण करेगा। इस लिए उपन्यासकार ऐसे पात्रों को चुनता है, जिनकी शक्तियों को वह जानता है और उन्हें किसी एक ऐसी अवस्था में डाल कर उनके चरित्र का विवेचन तथा वर्णन करता है, जिससे वह अपने अभीष्ट परिणाम तक पहुँच सके। किन्तु ऐसे परिणाम स्वाभाविक होते हैं। इन परिणामों तक पहुँचने के लिए उपन्यासकार को न तो घटना-क्रम का मनमाना उलटफेर करना पड़ता है और न जीवन की यथार्थ तथा सत्य बातों का गला ही घोटना पड़ता है।

यह सिद्धान्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उतना उपयुक्त नहीं है, जितना सौंदर्य-विवेचना के विचार से। इसी लिए इस श्रेणी के

उपन्यासकारों को पाश्चात्य देशों में विशेष महत्व दिया जाता है। वर्तमान योरोपीय उपन्यास-साहित्य पर उनका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। कथानक में जो कृत्रिमता प्रायः पाई जाती है, उसके विरुद्ध उन्होंने विद्रोह किया है। उनका विचार है कि किसी एक अभीष्ट परिणाम पर पहुँचने के लिए पात्र को अस्वाभाविक तथा असत्य घटनाक्रम में डालना जीवन की सत्यता नष्ट करना है और एक स्वतंत्रता से विकसित होने वाली वस्तु को, उसका यथार्थ वर्णन न करके निर्जीव बना देना है। इस प्रकार पात्र घटनाओं के आश्रित हो जाता है। और घटनाएँ पात्र पर निर्भर नहीं करतीं।

यह मानना पड़ेगा कि प्रकृतिवाद को एक प्रकार से ज़ोला ने ही सर्वप्रथम सिद्धान्त का रूप दिया है। किन्तु इसके पूर्व भी कुछ उपन्यासकारों को इसके तत्व का पता लग चुका था। इँगलैंड का प्रसिद्ध उपन्यासकार ट्रोलोप्पे इसका सब से पूर्व प्रामाणिक उदाहरण है। वह चरित्र-प्रधान उपन्यासकार था। उसके 'वारसेट शायर' की कहानियों में प्रकृतिवाद की बहुत कुछ झलक दिखलाई पड़ती है। उसके प्रायः सभी उपन्यासों में कथानक का विकास पात्रों के सहज स्वाभाविक कार्यों द्वारा ही होता है। वास्तव में उसके उपन्यासों में पात्र स्वयं अपनी कहानी बनाते हैं।

इसके अन्य और भी अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। प्रसिद्ध रशियन उपन्यासकार तुर्गनेव के 'फ़ादर्स एण्ड चिल्ड्रेन' नामक उपन्यास में भी पात्र स्वयं ही कहानी का रूप देते हैं। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि बड़े बड़े उपन्यासकारों ने इस बात का अनुभव किया है कि कला में कृत्रिमता का आ जाना किसी भी कला को दूषित कर देता है।

विख्यात अमेरिकन प्रकृतिवादी उपन्यासकार टामसन डेज़र का कहना है—'सत्य, सुंदरता, प्रेम और आशा, कौन-सी वस्तु है, यह

मैं नहीं जानता और न इस पर मैं विश्वास ही रखता हूँ। लेकिन फिर भी इनको मैं सन्देह की दृष्टि से नहीं देख सकता।'

डेज़र जीवन के इन तत्त्वों को न समझते हुए भी इनका अनुसरण करता है और कला को कृत्रिमता और असत्यता से दूषित नहीं होने देता। इस प्रकार उपन्यासकार के उपन्यासों में भी प्रकृतिवाद का पूर्ण विकास हुआ है और साथ ही साथ उसके उपन्यासों में इस सिद्धान्त के गुण और अवगुण दोनों ही पाये जाते हैं। जो कुछ भी अवगुण डेज़र के उपन्यासों में पाये जाते हैं, वे प्रकृतिवाद सिद्धान्त के दोष नहीं कहे जा सकते। वरन् वे लेखक की वर्णन-शैली के दोष हैं। जीवन की घटनाओं का उसने आवश्यकता से अधिक वर्णन किया है और कहीं-कहीं तो एक ही बात की कई बार आवृत्ति भी कर दी है। फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि गाल्सवर्दी के सर्व प्रसिद्ध उपन्यास 'कंट्री हाउस' के कथानक की सफलता तथा रोचकता का मुख्य श्रेय इसी सिद्धान्त को है।

फ्रांस के प्रतिष्ठित उपन्यास-लेखक रोमाँ रोलाँ के 'जीन क्रस्टफ़ो' में भी हम प्रकृतिवादी अंश देखते हैं। यद्यपि रोमाँ रोलाँ आदर्शवाद तथा यथार्थवाद का पूर्ण पक्षपाती है।

यशस्वी उपन्यासकार नेक्ज़ो के 'पेली दी कांकरर' की प्रसिद्धि भी प्रकृतिवाद के ही कारण है। नेक्ज़ो की सफलता तथा उसकी शक्ति इसी बात पर निर्भर करती है कि वह मनुष्य-जीवन की सामान्य, अधम, मलिन तथा असभ्य घटनाओं का भी वर्णन पूर्ण निष्कपटता और स्वाभाविक रूप से करता है। नेक्ज़ो जीवन की छोटी से छोटी तथा बड़ी से बड़ी सभी घटनाओं को महत्त्वपूर्ण समझता है; क्योंकि उसका यह विश्वास है कि जीवन के अधम से अधम अनुभव भी आत्मा की उन्नति में सहायता प्रदान करते हैं।

प्रकृतिवादी सिद्धान्त में एक बात और विचारणीय है। प्रकृतिवादी लेखकों के सम्बन्ध में जैसा ऊपर हम लिख चुके हैं कि लेखक को पात्र के जीवन की घटनाओं के सहज, स्वाभाविक अनुभवों पर तथा नियति पर निर्भर रहना पड़ता है।

प्रकृतिवादी उपन्यास-लेखक साथ ही साथ जीवन के अनुभवों का तथा भाग्यचक्र का बहुत ही सुन्दर चित्रण करते हैं। इसका सब से सुन्दर उदाहरण मार्शल प्राऊस्ट के उपन्यासों में बहुत अधिकता से मिलता है। उसके उपन्यासों में नियतिवाद की झलक प्रायः प्रसाद जी की तरह सभी स्थानों पर प्रकट होती है।

योरोपीय उपन्यासकारो ने नियति के चक्रों का दिग्दर्शन कई प्रकार से कराया है और मनुष्य के अंतर्द्वंद्व तथा उसकी आत्मा की प्रगति का भी पूर्ण विवेचन किया है। योरोपीय साहित्य में इसका भी बहुत महत्व है। यदि हम इसी सिद्धान्त को हिन्दी उपन्यास साहित्य में खोजे तो एक नवीन आकृति में प्रसाद के उपन्यासों में पावेंगे।

कंकाल में लेखक ने उन्नीस पात्र पात्रियों को लेकर एक ऐसे संसार की सृष्टि की है जो देखने में अत्यन्त पथभ्रष्ट है, उनका समाज में कोई स्थान नहीं है, समाज अपने धार्मिक और सामाजिक आदर्शों में कितना पाखंड बटोर कर अपने अस्तित्व को स्थायी बनाये हुए है, जिसमें पतन और पथ-भ्रष्ट की परिभाषा इतनी जटिल है कि परिस्थितियों और कुचक्र द्वारा पद दलित प्राणियों के लिये कोई स्थान नहीं।

उपन्यास में दस स्त्री चरित्र और नौ पुरुष चरित्र का निर्माण हुआ है। शेष कुछ पात्र इन चरित्रों को स्पष्ट और प्रकाश डालने के लिए घटना क्रम के अनुसार कहीं-कहीं प्रकट होते हैं, किन्तु उनका कोई स्थान नहीं।

कथा भाग—श्रीचन्द्र अमृतसर के व्यवसायी हैं, धन के लोभ में उन्हें कुछ नहीं दिखाई पड़ता। सन्तान की लालसा, साधु सन्यासियों की भक्ति पूजा में उनकी पत्नी किशोरी कुचरित्र हो जाती है, मठाधीश देवनिरंजन उसका शिकार होता है, बाल्यकाल में वे दोनों साथ खेले थे, घटनाचक्र से फिर उनका समागम होता है, उसकी कल्पना में किशोरी सम्मुख आती है और वह अत्यन्त अधीर होकर उसकी आराधना करने लगता है। जगत तो मिथ्या है ही, इसके जितने कर्म हैं, वे भी माया हैं, प्रमाता जीव भी प्राकृत है, क्योंकि वह भी अपरा प्रकृति है, जब विश्व मात्र प्राकृत है, तो इसमें अलौकिक अध्यात्म कहाँ। यही खेल यदि जगत बनाने वाले का है तो वह मुझे भी खेलना चाहिये।

श्रीचन्द्र किशोरी का हरद्वार में ही रहने का प्रबन्ध कर स्वयं अमृतसर में रहने लगा। इधर निरंजन और किशोरी का प्रणय चल रहा था। कुछ दिनों बाद श्रीचन्द्र आए। मान मनाव हुआ। किशोरी उनके साथ चली गई। किशोरी के आश्रम में रहने वाली विधवा रामा वहीं रह गई। निरंजन के मनोरंजन के लिए वही एक साधन बन कर प्रस्तुत हुई।

पन्द्रह बरस बाद, काशी में ग्रहण था। विधवा रामा अब निरंजन के भंडारी के साथ सधवा होकर अपनी कन्या तारा को लेकर आई थी। भीड़ के धक्के में पड़कर अपनी माता और साथियों से अलग हो जाती है। अन्त में एक कुटनी के चक्र में पड़कर उसे वेश्या बनना पड़ता है।

स्वयंसेवक मंगलदेव का उसका सामना हुआ था, किन्तु संकोच और लज्जा के कारण एक युवती को वह न बचा सका। फिर वेश्या होने पर एक दिन लखनऊ में उससे भेंट होती है। मंगल उसके आकर्षण में पड़ जाता है। गुलेनार वेश्यावृत्ति के उपयुक्त नहीं, वह सुरक्षित रहती है। मंगल के साथ एक दिन वह भाग जाती है। दोनों हरद्वार में रहते हैं। मंगल आर्य-समाज के वातावरण में जीवनोपार्जन करता है। दोनों सुख से रहते हैं। दोनों का विवाह होने वाला ही था कि एक दिन चाची; नन्दों के मुँह से

यह सुनकर कि तारा की माँ भी दुश्चरित्र थी, मंगल को घृणा होती है। विवाह की पूरी तैयारी हो जाने पर उसी दिन मंगल चुपचाप भाग जाता है।

उधर अनाथ तारा गर्भवती हो कर भटकती है। उसे कोई सहारा नहीं। चाची के यहाँ कई महीने कटते हैं। फिर आत्महत्या करने के लिए तारा प्रस्तुत होती है। किन्तु एक संन्यासी उसे कहता है—कि आत्म-हत्या करना पाप है।

तारा कहती है—पाप कहाँ, पुण्य किसका नाम मैं नहीं जानती। सुख खोजती रही, दुख मिला, दुख ही यदि पाप है तो मैं उससे छूट कर सुख की मौत मर रही हूँ, मरने दो।

अन्त से असफल होकर तारा कष्ट के दिन व्यतीत करती है। अस्पताल में उसे पुत्र उत्पन्न होता है।

दूसरी बार फिर गंगा में डूबने पर भी उसके प्राण न गए। एक महात्मा के द्वारा वह बचाई गई।

हरद्वार से जाने के छः मास बाद किशोरी को एक पुत्र उत्पन्न हुआ, तभी से श्रीचन्द्र की घृणा बढ़ती गई। बहुत सोचने पर श्रीचन्द्र ने यह निश्चय किया कि किशोरी काशी जा कर अपनी जारज सन्तान के साथ रहे और उसके खर्च के लिए वह कुछ भेजा करे। पुत्र पा कर किशोरी पति से वंचित हुई।

किशोरी का दिन अच्छी तरह बीतने लगा। देवनिरंजन भी कभी-कभी काशी आ जाते। किशोरी के यहाँ ही भंडारा होता।

किशोरी का पुत्र विजयचन्द्र स्कूल में पढ़ता था। एक दिन घोड़े पर से गिरते-गिरते उसे मंगलदेव ने बचाया। तभी से उन दोनों की मैत्री हो गई। आर्थिक कठिनाई के कारण मंगल उपवास कर रहा था। अन्त में विजय के अनुरोध करने पर वह विजय के साथ उसके घर रहने लगा।

उस दिन भंडारा था। अछूत भूखे पत्तल पर टूट रहे थे। एक राह की थकी हुई भूखी दुर्बल युवती भी वहाँ पहुँची। उसी भूख की जिससे वह स्वयं असक्त हो रही थी, यह बीभत्स लीला थी। वह सोच रही थी—क्या

संसार भर में पेट की ज्वाला, मनुष्य और पशुओं को एक ही समान सताती है। ये भी मनुष्य हैं और इसी धार्मिक भारत के मनुष्य हैं, जो कुत्तों के मुँह के टुकड़े भी छीन कर खाना चाहते हैं। भीतर जो पुण्य के नाम पर—धर्म के नाम पर गुलछर्रे उड़ा रहे हैं, उसमें वास्तविक भूखों का कितना भाग है, यह पत्तलों के लूटने का दृश्य बतला रहा है। भगवान तुम अन्तर्यामी हो।

वह अनाथिनी दुःखिनी किशोरी के आश्रय में रहने लगी। उस का नाम यमुना है। प्रभात के समय वह मालतीकुञ्ज की पत्थर की चौकी पर बैठी है। नीड़ में से निकलते हुए पक्षियों के कलरव को वह आश्चर्य से सुन रही थी। वह समझ न सकती थी कि उन्हें क्यों उल्लास है! संसार में प्रवृत्त होने की इतनी प्रसन्नता क्यों! दो-दो दाने बीन कर ले आने और जीवन को लम्बा करने के लिए इतनी उत्कण्ठा! इतना उत्साह! जीवन इतने सुख की वस्तु है?

उस दिन विजय, मंगल, किशोरी और दासी यमुना सभी बजरे पर बैठ कर गंगा की धारा में बह रहे थे। पार, रेती पर बजरा लगा। स्नान करके ज्योंही जमुना उठी, मंगल ने साहस से पूछा—तारा तुम्हीं हो।

उसने कहा—तारा मर गई, मैं उसकी प्रेतात्मा हूँ।

मंगल ने हाथ जोड़ कर कहा—तारा मुझे क्षमा करो।

तारा कहती है—हम लोगों का इसी में कल्याण है कि एक दूसरे को न पहचाने और न एक दूसरे की राह में अड़ें, क्योंकि दोनों को किसी दूसरे का अवलम्ब है।

विजय उन दोनों को बातें करते देखता है। उसकी आँखें क्षण भर में लाल हो जाती हैं। इस घटना का प्रभाव इतना पड़ता है कि विजय तीन दिन तक ज्वर में पड़ा रहता है।

मंगलदेव न जाने कैसी कल्पना से उन्मत्त हो उठता। हिंसक मनोवृत्ति

जाग जाती है। उसे दमन करने में वह असमर्थ था। दूसरे दिन बिना किसी से कहे सुने मंगल चला गया।

तीर्थ यात्रा के लिए किशोरी, विजय यमुना के साथ मथुरा चली जाती है।

एक दिन पाप पुण्य पर अपना मत प्रकट करते हुए विजय कहता है—पाप और कुछ नहीं है यमुना, जिन्हे हम छिपाकर किया चाहते हैं, उन्हीं कर्मों को पाप कह सकते हैं, परन्तु समाज का एक बड़ा भाग उसे यदि व्यवहार्य्य बना दे तो वही कर्म हो जाता है, धर्म हो जाता है। देखती नहीं हो, इतने विरुद्ध मत रखने वाले संसार के मनुष्य अपने-अपने विचारों में धार्मिक बने हैं, जो एक के यहाँ पाप है वही तो दूसरे के लिए पुण्य है।

विजय के मन में द्वन्द्व चल रहा था। उन्हीं दिनों एक अल्हड़ बाल विधवा तरुण बालिका घण्टी उन लोगों से परिचित होती है। घण्टी परिहास करने में बड़ी निर्दय थी।

मंगलदेव भी आठ बालकों को लेकर ऋषिकुल बनाये था। वह सहायता के लिए किशोरी के यहाँ आता है। किशोरी और निरंजन ने उसे घर बनवा देने और वस्त्र इत्यादि की सहायता का वचन दिया।

सब का मन इस घटना से हलका था, पर यमुना अपने भारी हृदय से बार-बार यही पूछती थी कि इन लोगों ने मंगल को जलपान करने तक को न पूछा, इसका कारण क्या उसका प्रार्थी हो कर आना है।

विजय अपने हृदय का रहस्य यमुना के सम्मुख एक दिन खोलता है। वह कहता है—तुम मेरी आराध्यदेवी हो—सर्वस्व हो।

किन्तु यमुना कहती है—मैं दया की पात्री एक बहन होना चाहती हूँ।

विजय का यौवन उच्छृङ्खल भाव से बढ़ रहा था। घण्टी आकर उसमें सजीवता ले आने का प्रयत्न करती; परन्तु वैसे ही जैसे एक खँडहर की किसी भग्न प्राचीर पर बैठा हुआ पपीहा कभी बोल दे।

घण्टी को साथ लेकर विजय घूमता है। दोनों में घनिष्ठता बढ़ जाती है। भेद खुलने पर घण्टी कहती है—मैं क्या जानूँ कि लज्जा किसे कहते हैं।

किशोरी मथुरा से काशी चली जाती है। यमुना, गोस्वामी कृष्णशरण के आश्रम में रहने लगती है।

घटनावश एक दिन तांगे पर घण्टी और विजय घूमने निकलते हैं। उस दिन तांगे वाले के षड्यन्त्र से आक्रमण होता है। घण्टी को चोट लगती है। चर्च के पास ही इस दुर्घटना के कारण पादरी जान और बाथम का सहारा मिलता है। विजय और घण्टी वहीं कुछ दिन रहते हैं। सरला और लतिका दो हिन्दू महिलाएँ ईसाई हो गई थीं। वहीं एक दिन अंधे भिखारी द्वारा ज्ञात होता है कि घण्टी की माता का नाम नन्दो है।

सरला और विजय से बातें होते हुए यह रहस्य भी खुलता है कि मंगल के गले में जो यन्त्र था और जिसे विजय को मंगल ने एक बार बेंचने के लिये दिया था, वह यन्त्र मंगल के वंश का रक्षा कवच था। उसी के आधार पर मंगल सरला का पुत्र प्रमाणित होता है।

वृन्दावन के समीप एक छोटा सा श्रीकृष्ण का मन्दिर है। गोस्वामी कृष्णशरण उस मन्दिर के अध्यक्ष, एक साठ पैंसठ बरस के तपस्वी पुरुष हैं। किशोरी से अलग हो कर यमुना अब वहीं रहती है। मंगलदेव भी अब गोस्वामी जी को गुरु के रूप में मानता है। आश्रम में कृष्ण कथा प्रायः होती है। घण्टी और विजय भी कभी उस कथा में सम्मिलित होते। एक दिन गोस्वामी जी से विजय घण्टी से ब्याह करने के सम्बन्ध में अनुमति चाहता है।

गोस्वामीजी कहते हैं—यदि दोनों में परस्पर प्रेम है तो भगवान का साक्षी देकर तुम परिणय के पवित्र बन्धन में बँध सकते हो।

किन्तु सहसा यमुना ने कहा—विजय बाबू, यह ब्याह आप केवल अहंकार से करने जा रहे हैं। आपका प्रेम घण्टी पर नहीं है।

सब आश्चर्य में थे। बूढ़ा पादरी जान, सरला, लतिका, विजय और घण्टी सब लोग वहाँ से तांगे पर चले आये।

किशोरी और निरंजन काशी लौट आये थे, परन्तु उन दोनों के हृदय में शान्ति न थी। क्रोध से किशोरी ने विजय का तिरस्कार किया। फिर भी सहज मातृ स्नेह विद्रोह करने लगा। निरंजन से झगड़ा बढ़ने लगा। दोनों में अनबन रहने लगी। निरंजन ऊब कर जाने का निश्चय कर लेता है। किशोरी कहती है—तो रोकता कौन है, जाओ; परन्तु जिसके लिए मैंने सब कुछ खो दिया है, उसे तुम्हीं ने मुझसे छीन लिया—उसे देकर जाओ! जाओ तपस्या करो, तुम फिर महात्मा बन जाओगे! सुना है, पुरुषों के तप करने से घोर कुकर्मों को भी भगवान क्षमा करके उन्हें दर्शन देते हैं। पर मैं हूँ स्त्री जाति, मेरा वह भाग्य नहीं, मैंने जो पाप बटोरा है; उसे ही मेरे गोद में फेंकते जाओ।

निरंजन बिना एक शब्द कहे स्टेशन चला गया।

उसी दिन श्रीचंद्र अपनी प्रेयसी चंदा और उसकी लड़की लाली को लेकर काशी आते हैं, दोनों में समझौते का मार्ग खुलता है।

विजय के प्रति घण्टी के मन में भी तर्क चलता है। वह कहती है—हिन्दू स्त्रियों का समाज ही कैसा है, उसमें कुछ अधिकार हो तब तो उसके लिये कुछ सोचना विचारना चाहिए। और जहाँ अन्ध अनुसरण करने का आदेश है वहाँ प्राकृतिक, स्त्री-जनोचित, प्यार कर लेने का जो हमारा नैसर्गिक अधिकार है—जैसा कि घटनावश, प्रायः स्त्रियाँ किया करती हैं—उसे क्यों छोड़ दूँ? यह कैसे हो, क्यों हो? इसका विचार पुरुष करते हैं। वे करें, उन्हे विश्वास बनाना है, कौड़ी पाई लेना रहता है और स्त्रियों को भरना पड़ता है।

विजय सोचता है कि यह हँसमुख घण्टी संसार के सब प्रश्नों को सहल किये बैठी है।

घण्टी कहने लगती है—तुम ब्याह करके यदि उसका प्रतिदान किया चाहते हो तो भी मुझे कोई चिन्ता नहीं। यह विचार तो मुझे कभी सताता ही नहीं। मुझे जो करना है वही करती हूँ, करूँगी भी। घूमोगे घूमूँगी,

पिलाओगे पिऊँगीं, दुलार करोगे हँस लूगीं, ठुकराओगे रो दूँगीं। स्त्री को इन सभी वस्तुओं की आवश्यकता है। मैं इन सबों को समभाव से ग्रहण करती हूँ और करूँगी।

नौका-विहार से जैसे ही विजय और घण्टी उतरे थे, वैसे ही एक भीषण दुर्घटना हो गई। घण्टी को भगा ले जाने के लिये जो षड्यन्त्र चल रहा था, वे ही लोग सम्मुख आ जाते हैं। द्वन्द्व होता है। विजय एक पुरुष का गला दबा कर उसका प्राण ले लेता है। 'खून हो गया है तुम यहाँ से हट चलो'—कहते हुए बाथम घण्टी को लेकर चला जाता है। उसी समय स्नान के लिये निकली हुई यमुना वहाँ उपस्थित होती है। निरंजन पहले ही से उसके पीछे-पीछे सब देख सुन रहा था।

विजय भयभीत हुआ। मृत्यु जब तक कल्पना की वस्तु रहती है तब तक चाहे उसका जितना प्रत्याख्यान कर लिया जाय, परन्तु यदि वह सामने हो?

निरंजन और यमुना के समझाने पर विजय नाव पर बैठ कर निकल जाता है।

लतिका और बाथम का सम्बन्ध विच्छेद होता है। सरला उसे समझाती है—दुःख के लिए, सुख के लिए, जीवन के लिए और मरण के लिए इसमें शिथिलता न आनी चाहिए। आपत्तियाँ वायु की तरह निकल जाती हैं; सुख के दिन प्रकाश के सदृश पश्चिमी समुद्र में भागते रहते हैं। समय काटना होगा, और यह ध्रुव सत्य है कि दोनों का अन्त है।

लतिका और सरला चर्च का आश्रय छोड़ कर गोस्वामी कृष्णशरण के आश्रम में जाती हैं।

घण्टी उधेड़-बुन में लगी थी। वह मन ही मन कहती है—मैं भीख माँग कर खाती थी, तब मेरा कोई अपना नहीं था। लोग दिल्लगी करते और मैं हँसती, हँसा कर हँसती। मुझे विश्वास हो गया कि इस विचित्र भूतल पर हम लोग केवल हँसी की लहरों में हिलने डोलने के लिए आये

हैं।...पर उस हँसी ने रंग पलट दिया, वही हँसी अपना कुछ और उद्देश्य रखने लगी। फिर विजय, धीरे-धीरे जैसे सावन की हरयाली पर प्रभात का बादल बन कर छा गया। मैं नाचने लगी मयूरी-सी। और अब यौवन का मेघ बरसने लगा।...नियति चारों ओर से दबा रही थी। लो मैं चली, बाथम...उस पर भी लतिका रोती होगी। अरे-अरे मैं हँसाने वाली सब को रुलाने लगी! मैं उसी दिन धर्म से च्युत हो गई...

फ़तहपुर सीकरी से अछनेरा जाने वाली सड़क के सूने अंचल में एक छोटा सा जंगल है। वहाँ डाकू बदन गूजर के यहाँ विजय अपना दिन काटता है। गाला बदन की लड़की है। गाला एक मुसलमानी स्त्री से उत्पन्न हुई थी। गाला और विजय की घनिष्ठता अधिक बढ़ने लगी। यह देख कर बदन गूजर ने एक दिन नये (विजय का नया नाम) से कहा—नये! मैं तुमको उपयुक्त समझता हूँ। गाला के जीवन की धारा सरल पथ से बहा ले चलने की क्षमता तुम में है।

किन्तु गाला भेद भरी दृष्टि से इसे अस्वीकार करती है, यह कह कर कि मैं अपने यहाँ पले हुए मनुष्य से कभी ब्याह न करूँगी।

मंगलदेव अपने मानसिक हलचल के कारण वृन्दावन से आकर उसी जंगल के एक ग्राम में गूजर बालकों की एक पाठशाला खोलता है। गाला के यहाँ भी कभी-कभी सहायता के लिए आता है।

मंगल एक दिन शून्य पथ पर निरुद्देश्य चला जा रहा था। चिन्ता जब अधिक हो जाती है, तब उसकी शाखा-प्रशाखाएँ इतनी निकलती हैं कि मस्तिष्क उनके साथ दौड़ने में थक जाता है। किसी विशेष चिन्ता की वास्तविक गुरुता लुप्त होकर विचार करने को यांत्रिक और चेतना वेदना विहीन बना देती है। तब, पैरों से चलने में, मस्तिष्क से विचार करने में, कोई विशेष भिन्नता नहीं रह जाती। मंगलदेव की वही अवस्था थी। मार्ग में गाला और उसके पिता से उसकी भेंट होती है। दोनों को वह पाठशाला दिखलाता है। बालिकाओं के लिए वह एक विभाग खोलने के लिए योजना रखता

है। गाला पढ़ी लिखी है। अतएव वह योग्यता से यह कार्य कर सकती है। मंगल की योजना में इस का संकेत है।

विजय के जिस खून के मुकदमे में यमुना स्वयं विजय को बचाने के लिये फँसती है, न्यायालय में वह विचित्र मुकदमा चल रहा था। निरंजन ने धन से काफी सहायता की।

मंगलदेव की पाठशाला में अब दो विभाग हैं—एक लड़कों का दूसरा लड़कियों का। गाला लड़कियों की शिक्षा का प्रबन्ध करती। वह अब एक प्रभावशालिनी गंभीर युवती दिखलाई पड़ती—जिसके चारों ओर पवित्रता और ब्रह्मचर्य का मण्डल घिरा रहता। बहुत से लोग जो पाठशाला में आते वे इस जोड़ी को आश्चर्य से देखते।

मंगल वृन्दावन से कई दिनों बाद लौटा। उसने यमुना के उस मुकदमे का विवरण बतलाया।

गाला कहती है—स्त्री जिससे प्रेम करती है, उसी पर सरबस वार देने को प्रस्तुत हो जाती है, यदि वह भी उसका प्रेमी हो तो! स्त्री वय के हिसाब से सदैव शिशु, कर्म में वयस्क और अपनी असहायता में निरीह है। विधाता का ऐसा ही विधान है।

मंगल कहता है—उसका कारण प्रेम नहीं है, जैसा तुम समझ रही हो।

गाला ने एक दीर्घ निश्वास लिया। उसने कहा—नारी जाति का निर्माण विधाता की एक झुँझलाहट है। मंगल! उससे संसार भर के पुण्य कुछ लेना चाहता है, एक माता ही कुछ सहानुभूति रखती है, इसका कारण है उसका भी स्त्री होना।

घटनाक्रम के अनुसार गोस्वामी कृष्णशरण के आश्रम में मंगल, गाला, यमुना, लतिका, नन्दो, घण्टी, निरंजन सभी उपस्थित होते हैं। भारत-संघ का स्थापन होता है। सेवा धर्म जिसका प्रधान उद्देश्य है।

यमुना अन्त में उस मुकदमे में निर्दोष समझ कर छोड़ दी जाती है।

सरला को उस का पुत्र मंगलदेव मिल जाता है। एक दिन स्नान करने के लिये जाते हुए लतिका और यमुना में बातें होती हैं।

'जब मैं स्त्रियों के ऊपर दया दिखाने का उत्साह पुरुषों में देखती हूँ, तो जैसे कट जाती हूँ ऐसा जान पड़ता है कि वह सब कोलाहल, स्त्री-जाति की लज्जा की मेघमाला है। उसकी असहाय परिस्थिति का व्यंग उपहास है।' यमुना ने कहा—

लतिका कहती है—पुरुष नहीं जानते कि स्नेहमयी रमणी सुविधा नहीं चाहती, वह हृदय चाहती है। पर मन इतना भिन्न उपकरणों से बना हुआ है कि समझौते पर ही संसार के स्त्री-पुरुषों का व्यवहार चलता हुआ दिखाई देता है······हम स्त्रियों के भाग्य में लिखा है कि उड़ कर भागते हुए पत्नी के पीछे, चारा और पानी से भरा हुआ पिंजरा लिये घूमती रहे!

यमुना ने कहा—कोई समाज और धर्म स्त्रियों का नहीं बहन! सब पुरुषों के हैं। सब हृदय को कुचलने वाले क्रूर हैं, फिर भी मैं समझती हूँ, कि स्त्रियों का एक धर्म है, वह है आघात सहने की क्षमता रखना।

भारत-संघ की स्थापना हो गई। निरंजन ने अपने भाषण में कहा—भगवान की विभूतियों को समाज ने बाँट लिया है, परन्तु जब मैं स्वार्थियों को भगवान पर भी अधिकार जमाये देखता हूँ तो मुझे हँसी आती है—और भी हँसी आती है—जब उस अधिकार की घोषणा करके दूसरों को वे छोटा, नीच और पतित ठहराते हैं···

मंगलदेव कहता है—सुधार सौन्दर्य का साधन है। सभ्यता सौन्दर्य की जिज्ञासा है। शारीरिक और आलंकारिक सौन्दर्य प्राथमिक है, चरम सौन्दर्य मानसिक सुधार का है। मानसिक सुधारों मे सामूहिक भाव कार्य करते हैं···समाज को सुरक्षित रखने के लिये उसके संघटन में स्वाभाविक मनोवृत्तियों की सत्ता स्वीकार करनी होगी। सबके लिये एक पथ देना होगा। समस्त प्राकृतिक आकांक्षाओं की पूर्ति आप के आदर्श में होनी चाहिये।

निरंजन के प्रयत्न और कृष्णशरण के आदेशानुसार गाला का विवाह मंगल के साथ हो जाता है। यमुना अपने भाई भिखारी विजय को लेकर काशी चली जाती है। घंटी, सरला, लतिका, इत्यादि आश्रम में ही रहते हुए सेवा मार्ग ग्रहण करती हैं।

किशोरी श्रीचन्द्र के साथ ही रहती है। किशोरी के मन में फिर भी शांति नहीं। 'एक दिन उसे निरंजन का एक पत्र मिलता है, उसमें अपना हृदय खोल कर वह अपने अपराधों को स्वीकार करते हुए किशोरी को सान्त्वना देता है। वह लिखता है—मर्मव्यथा से व्याकुल होकर गोस्वामी कृष्णशरण से जब मैंने अपना सब समाचार सुनाया, तो उन्होंने बहुत देर तक चुप रह कर यही कहा—निरंजन भगवान क्षमा करते हैं। मनुष्य भूलें करता है, इसका रहस्य है मनुष्य का परिमित ज्ञानाभास; सत्य इतना विराट है कि हम क्षुद्र जीव व्यावहारिक रूप में उसे संपूर्ण ग्रहण करने में प्रायः असमर्थ प्रमाणित होते हैं। जिन्हें हम परम्परागत संस्कारों के प्रकाश से कलंकमय देखते हैं। वे ही क्षुद्र ज्ञान में, सत्य ठहरें तो मुझे कुछ आश्चर्य न होगा...

किशोरी न्याय और दण्ड देने का ढकोसला तो मनुष्य भी कर सकता है, पर क्षमा में भगवान की शक्ति है। उसकी सत्ता है, महत्ता है। सम्भव है कि इसी लिए सब के क्षमा के लिए, वह महाप्रलय करता हो।

किशोरी के मन में घोर अशान्ति है। अपने दत्तक पुत्र मोहन से उसे सन्तोष न हुआ। विजय के प्रति वह व्याकुल रहती है। वह रोग-शैया पर पड़ जाती है।

यमुना काशी आकर किशोरी के यहाँ फिर दासी के रूप में प्रवेश करती है। रहस्य खुलता है। मोहन उसी का पुत्र है, यमुना उसकी दासी बन कर कुछ शान्ति पाती है। विजय कंगालों की श्रेणी में सड़क पर पड़ा दिन काटता है। किशोरी की मरणावस्था बता कर यमुना विजय को श्रीचंद्र के यहाँ ले जाती है। श्रीचंद्र उसे भिखारी ही समझता है, विजय किशोरी को देख कर लौट आता है। किशोरी का अन्त होता है।

कुछ दिनों के बाद उन कंगाल मनुष्यों के साथ जीवन व्यतीत करते हुए सहसा एक दिन विजय मरता है। घंटी, मंगल, गाला उस दिन सब संघ के जलूस में थे। घटना स्थान पर मंगल, गाला, घंटी, यमुना और श्रीचंद्र रहते हैं।

स्वयंसेवकों की सहायता से उसका मृतक-संस्कार करवाने का प्रवन्ध हुआ।

मनुष्य के हिसाब किताब में काम ही तो बाकी पड़े मिलते हैं—कह कर घंटी सोचने लगी। फिर उस शव की दीन-दशा मंगल को संकेत से दिखलाया।

मंगल ने देखा—एक स्त्री पास ही मलिन वसन में बैठी है। उसका घूँघट आँसुओं से भींग गया है, और निराश्रय पड़ा है एक—कंकाल।

ऊपर कंकाल उपन्यास का जो कथा भाग संक्षेप में दिया गया है उसमें अधिकतर यही ध्यान रखा गया है कि प्रधान पात्र-पात्रियों की वास्तविक मनोवृत्तियों का प्रदर्शन किया जाय। जिसमें पाठकों को उनके हृदय की बाते सरलता से समझने में सुविधा हो।

कंकाल में धार्मिक सूत्र बाँधकर सामाजिक दृष्टिकोण रखा गया है। अतएव कथा का आरम्भ और अन्त, प्रयाग, हरद्वार, मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या और काशी आदि प्रमुख तीर्थ स्थानों में ही होता है।

कंकाल लेखक का प्रथम उपन्यास है। पात्रों में प्रतिद्वन्द्विता चला कर कथा को आकर्षक बनाने का प्रयत्न स्वाभाविक ही है। संसार के अधिकांश उपन्यासों में पात्रों में प्रतिद्वन्द्विता चला कर कथा को रोचक और कौतूहलपूर्ण बनाने की प्रणाली प्रचलित है। यदि विश्व साहित्य के समस्त उपन्यासों की छानबीन की जाय तो यही निष्कर्ष निकलेगा की दो स्त्री और एक पुरुष अथवा दो पुरुष और एक स्त्री को लेकर ही प्रतिद्वन्द्विता की भावना प्रबल करने का उद्देश्य लेखकों ने सम्मुख रखा है। भारतीय कथा साहित्य में बंकिम बाबू के 'विषवृक्ष' के बाद यही धारा बही है।

कंकाल में भी पहले तारा को लेकर मंगल और विजय में यही भावना जागृत होती है। विजय तारा से निराश हो कर घंटी के

पाश में बँधता है। फिर गाला को लेकर विजय और मंगल का वही मानसिक द्वन्द्व चलता है। अतएव जब विजय जैसा युवक तीन-तीन नवयुवतियों के प्रेम में विकल रहता है, तो कथानक अपने आप आकर्षण की भूमि पर वेग से बढ़ेगा, इसमें कोई संदेह नहीं।

'टेकनिक' के ख्याल से लेखक ने इस उपन्यास में काफी स्वतंत्रता से काम लिया है। जिस तरह नियमित रूप में परिच्छेदों का क्रम उपन्यास में रहता है, वैसा न करके अपनी सुविधानुसार ही लेखक ने उनका क्रम रखा है।

उपन्यासों में प्रायः देखा जाता है कि एक हिरो (प्रधान नायक) और एक हिरोइन (प्रधान नायिका) को लेकर ही उपन्यास चलता है, किन्तु कंकाल में ऐसा नही है। 'वेनटी फेयर' की तरह यह पूर्ण रूप से नहीं कहा जा सकता कि मंगल और विजय में कौन प्रधान है? दोनों का चरित्र जोरदार है, वैसे ही तारा और घंटी में भी समानता है, यह ठीक है कि तारा का चित्रण अधिक मार्मिक है, उसमें गंभीरता और त्याग अधिक है, घंटी में वास्तविकता और हँसोड़ उदण्डता का प्रदर्शन है।

कंकाल में भी नियति का प्रभाव उपस्थित हो जाता है, जैसे निरंजन का मठाधीश हो जाना, गाला को डाके का धन मिलना, श्रीचन्द्र को चन्दा द्वारा आर्थिक सहायता मिलनी, मोहन का श्रीचंद्र का दत्तक पुत्र होना इत्यादि।

गोस्वामी कृष्णशरण का धार्मिक व्याख्यान, गाला की माता की कहानी दोनों कुछ विशेष आकर्षक नहीं, ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यास में इतना अंश किसी तरह रख दिया गया है, टेकनिक के अनुसार भी यह उपयुक्त नहीं जँचता। मैंने कंकाल सुनने के बाद अपना यही मत प्रसाद जी के सम्मुख रखा था। किन्तु लेखक को

जो उपयुक्त जँचे वही ठीक है, उसकी स्वतंत्रता में कौन बाधक हो सकता है ?

कंकाल में कृष्णशरण को छोड़ कर सभी चरित्र यथार्थवादी भूमि पर उत्पन्न हुए हैं। समाज का नग्न रूप इतने वास्तविक दृष्टिकोण से रखा गया है कि उसे देख कर आदर्शवादी अवश्य ही अपना मुँह विकृत कर लेंगे। लेकिन मुझे तो सब से बड़ा आश्चर्य तब हुआ, जब कंकाल की आलोचना करते हुए प्रेमचन्द जी ने लिखा था—घंटी का चरित्र बहुत ही सुन्दर हुआ है। उसने एक दीपक की भाँति अपने प्रकाश से इस रचना को उज्ज्वल कर दिया है। अल्हड़पन के साथ जीवन पर ऐसी तात्विक दृष्टि, यद्यपि पढ़ने में कुछ अस्वाभाविक मालुम होती है, पर यथार्थ में सत्य है। विरोधों का मेल जीवन का गूढ़ रहस्य है।

कहना न होगा कि घंटी का चरित्र सब से अधिक यथार्थवादी दृष्टिकोण से किया गया है।

वर्तमान यूरोपीय उपन्यासों में सत्यता के नाम पर वास्तविक चित्रण करने में कुछ यथार्थवादी लेखकों को हिचकने की आवश्यकता नहीं पड़ती। मैंने नार्वे के विख्यात लेखक नेट हेमसन् का 'दी रोड् लीड्स ऑन' उपन्यास पढ़ा। उसमें नायक की माता के दुश्चरित्रता का वर्णन उसकी पत्नी उससे कर रही है और अपनी माता के कुचरित्रों को नायक भली-भाँति जानता है, फिर भी उसके व्यवहार और स्नेह में अन्तर नहीं दिखलाई पड़ता। लेकिन कंकाल में लेखक ऐसा नहीं करता। किशोरी के कुचरित्र होने पर भी विजय को ज्ञात नहीं होता है। विदेशों में चाहे कला के नाम पर नग्नता की इस अन्तिम सीमा तक लेखक भले ही पहुँच जाय; किन्तु हिन्दी यथार्थ-वादी लेखक ऐसा चित्रण करने में अपना अपमान समझेगा।

'तितली' प्रसाद का दूसरा उपन्यास है, इसमें पूर्व और पश्चिम

का मेल कराकर दोनों में अन्तर दिखलाया गया है। तितली में १० स्त्री और १४ पुरुष पात्रों का चित्रण हुआ है। प्रमुख चरित्रों में इन्द्रदेव, मधुबन, रामनाथ, शैला और तितली हैं; मधुबन के चरित्र का आरम्भिक अंश विशेष स्पष्ट नहीं हुआ है, आगे चलकर जिस सूत्र में उसे बाँधा गया है, वह अधिक उज्ज्वल हुआ है। रामनाथ का अध्ययन इतना पहुँच जाता है कि वह ग्रीस और रोम की आर्य संस्कृति का प्रभाव भली-भाँति समझते हुए बोलता है; ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक उसके मुँह से केवल अपना विचार प्रकट कर रहा है।

तितली में कंकाल की भाँति स्पष्ट चित्रण नहीं है, पात्रों का अन्तरद्वन्द्व घटनाक्रम के अनुसार पुष्ट हुआ है, कथानक की दृष्टि से तितली, कंकाल से आकर्षक है, किन्तु चरित्र-चित्रण कंकाल की तरह उतना स्वाभाविक नहीं है।

भाषा की दृष्टि से तितली, कंकाल से सरल है; तितली पाक्षिक 'जागरण' में धारावाहिक रूप में प्रकाशित होती रही, कभी-कभी 'मूड' न होने पर भी मेरे अनुरोध से प्रसादजी को बराबर लिखना पड़ता था, अतएव यह भी सम्भव है कि यदि वह इस उपन्यास को अधिक समय देकर लिखते तो वर्तमान रूप से अधिक पुष्ट होता।

तितली उपन्यास में घटनाक्रम के अनुसार पर्याप्त रोमांस है, यही कारण है कि पाठकों को पढ़ने में वह आकर्षक प्रतीत होता है, इसमें 'टर्न' घुमाव जो उपस्थित किया गया है, वह टेकनिक की दृष्टि से पूर्ण हुआ है। कथानक और घटनाक्रम के निर्माण के अनुसार तितली, कंकाल से अधिक महत्वपूर्ण है। कवि होने के कारण भावुकता की मात्रा और दृश्यों का वर्णन इसमें भी अत्यन्त सुन्दर हुआ है।

मधुबन, रामनाथ और सुखदेव चौबे, इन तीनों पात्रों के अध्ययन करने पर प्रकट होता है कि लेखक ने इन चरित्रों के सम्बन्ध

में इनका काल्पनिक चित्र अपने मस्तिष्क में नहीं बना पाया था। घटनाक्रम के अनुसार ही उनका चरित्र बनता गया।

कंकाल और तितली में सबसे महत्व की बात यही है कि कंकाल में चरित्र के अनुसार घटनाक्रम बना है और तितली में घटनाक्रम के अनुसार ही चरित्र-चित्रण किया गया है।

तितली

संवत् '५५ के अकाल में बुड्ढे ने बंजो को पाया था। वह आज उसी समय की कहानी सुनाने ही वाला था कि एकाएक धाँय-धाँय का शब्द सुनाई पड़ा।

गंगातट बन्दूक के धड़ाके से मुखरित हो उठा। बंजो कुतूहल से झोंपड़ी के बाहर चली आई।

बंजो समझ गई कि कोई शिकारी इधर आ गया है। उसके हृदय में विरक्ति हुई, ऊँह, शिकारी पर दया दिखाने की क्या आवश्यकता भटकने दो!

कटीली झाड़ी में चौबे जी फँस गए थे। बंजो को यह भी ज्ञात हुआ कि उस दल में एक रमणी भी है।

चौबे ने कहा—कैसी साँसत है सरकार, भला आप क्यों चली आईं।

शैला ने कहा—इन्द्रदेव से यह मालुम हुआ था कि सुरखाब इधर बहुत हैं, मैं इनके मुलायम परों के लिए आई। सच चौबे जी, लालच में चली आई, किन्तु छर्रों से उनका मरना देखने में मुझे सुख न मिला। आह! कितने निडर हो वे गंगा के किनारे टहलते थे। उन पर विन्चेस्टर रिपीटर के छर्रों की चोट!...बिलकुल ठीक नहीं। मैं आज ही इन्द्रदेव को शिकार खेलने से रोकूँगी—आज ही।

अब किधर चला जाय?—शैला ने पूछा।

चौबे जी ने डग बढ़ा कर कहा—मेरे पीछे-पीछे चली आइये।

किन्तु मिट्टी बह जाने से जो मोटी जड़ नीम की उभड़ आई थी, उसने ऐसी करारी ठोकर लगाई कि चौबे जी मुँह के बल गिरे।

रमणी चिल्ला उठी। उस धमाके और चिल्लाहट ने बंजो को विचलित कर दिया! वह सहायता के लिए प्रस्तुत हो गई।

शैला और चौबे बंजो के साथ उसकी झोंपड़ी तक जा रहे थे, उसी समय इन्द्रदेव ने शैला को पुकारा।

बंजो के सहारे चौबे जी को छोड़ कर शैला फिरहरी की तरह घूम पड़ी। उसने कहा—बहुत सँभल कर आना, चौबे का तो घुटना ही टूट गया है।

नीम के नीचे खड़े हो कर इन्द्रदेव ने शैला के कोमल हाथों को दबा कर कहा—करारे की मिट्टी काट कर देहातियों ने कामचलाऊ सीढ़ियाँ अच्छी बना ली हैं। शैला कितना सुन्दर दृश्य है! नीचे धीरे-धीरे गंगा बह रही है, अंधकार से मिली हुई उस पार के वृक्षों की श्रेणी क्षितिज की कोर में गाढ़ी कालिमा की बेल बना रही है, और ऊपर......

पहले चल कर चौबे को देख लो, फिर दृश्य देखना—बीच ही में रोक-कर शैला ने कहा।

सब लोग बंजो के साथ उसकी झोंपड़ी तक पहुँचे।

चौबे जी वहीं रात भर रह गये, शैला इन्द्रदेव के साथ छावनी लौट आई।

बंजो बुड्ढे से कहती है—बापू जो आए थे, जिन्हें मैं पहुँचाने गई थी वही तो धामपुर के ज़मीदार हैं। लालटेन लेकर कई नौकर चाकर उन्हें खोज रहे थे। पगडंडी पर ही उन लोगों से भेंट हुई। मधुआ के साथ मैं फिर लौट आई।

मधुआ तेल लेकर चौबे का घुटना सेंकने लगा।

बंजो पुआल में, कम्बल लेकर घुसी। कुछ पुआल और कुछ कम्बल से गले तक शरीर ढँक कर, वह सोने का अभिनय करने लगी। पलकों पर ठंढ लगने से बीच में वह आँख खोलने मूँदने का खिलवाड़ कर रही थी। जब आँखें बन्द रहतीं; तब एक गोरा गोरा मुँह—करुणा की मिठास से भरा हुआ गोल मटोल नन्हा सा मुँह—उसके सामने हँसने लगता। उसमें ममता

का आकर्षण था—किन्तु विजय हुई आँख बन्द करने की। शैला के संगीत के समान सुन्दर शब्द उसकी हृदयतंत्री में झनझना उठे।

शैला से मित्रता—शैला से मधुर परिचय—के लिए न जाने कहाँ की साध उमड़ पड़ी थी।

इन्द्रदेव के पिता को राजा की उपाधि मिली थी। धनी के लड़के होने के कारण उन्हे पढ़ने लिखने की उतनी आवश्यकता न थी, जितनी लन्दन का सामाजिक बनने की।

इन्द्रदेव कभी-कभी लन्दन के उस पूर्वीय भाग की सैर के लिए चले जाते थे, जहाँ अर्द्ध-नग्न दरिद्रों का रात्रि निवास था।

चुपचाप वह दृश्य देख रहे और सोच रहे थे—इतना अकूत धन विदेशों से ले आकर भी, क्या इन साहसी उद्योगियों ने अपने देश की दरिद्रता का नाश किया? अन्य देशों की प्रकृति का रक्त इन लोगों की कितनी प्यास बुझा सका है?

सहसा एक लम्बी सी, पतली-दुबली लड़की ने आकर उसके पास याचना की। इन्द्रदेव ने गहरी दृष्टि से उस विवर्ण मुख को देख कर पूछा—क्यों तुम्हारे पिता माता नहीं हैं?

पिता जेल में हैं, माता मर गई है।—उसने कहा।

और इतने अनाथालय?—इन्द्रदेव ने पूछा।

उनमें जगह नहीं!—उसने कहा।

इन्द्रदेव ने पूछा—तुम्हारे कपड़े से शराब की दुर्गन्ध आ रही है। क्या तुम...

जैक बहुत ज्यादा पी गया था। उसीने कै कर दी है। दूसरा कपड़ा नहीं जो बदलूँ। बड़ी सरदी है। कह कर लड़की ने अपनी छाती के पास का कपड़ा मुट्ठियों से समेट लिया।

इन्द्रदेव ने प्रश्न किया—तुम नौकरी क्यों नहीं कर लेती?

उसने उत्तर दिया—रखता कौन है ? हम लोगों को तो वे बदमाश, गिरहकट, आवारा समझते हैं। पास खड़े होना भी......

सरदी के कारण उसके दाँत बज उठे। वह आगे कुछ कह न सकी। एक छोकरे ने आकर लड़की को धक्का देते हुए कहा—जो पाती है, सबकी शराब पी जाती है। इसको देना न देना बराबर है।

वह घूम कर जाने के लिए तैयार थी कि इन्ददेव ने कहा—अच्छा सुनो तो, तुम पास के भोजनालय तक चलो; तुमको खाने के लिये और हो सका तो कोई कपड़ा भी दिलवा दूँगा।

छोकरा—हो-हो-हो करके हँस पड़ा। बोला—जा न शैला ! आज की रात तो गरमी से बिता ले, फिर कल देखा जायगा।

इन्द्रदेव शैला को साथ लेकर अपनी मेस में चले आये। उस मेस में तीन भारतीय छात्र रहते थे। इन्द्रदेव की सम्मति से सब लोगों ने शैला को परिचारिका रूप में स्वीकार किया। शैला वहीं उन लोगों के साथ रहने लगी।

इन्द्रदेव के सहवास में रह कर शैला भारतवर्ष के प्रति सहानुभूति और आकर्षण प्रकट करती है। पिता के मृत्यु का समाचार पा कर इन्द्रदेव, शैला को लेकर भारत चले आते हैं।

इन्द्रदेव ने शहर के महल में न रह कर धामपुर के बँगले में ही रहने का प्रबन्ध किया।

इंगलैंड में ही इन्द्रदेव ने शैला को हिन्दी से खूब परिचित करा दिया था। वह अब अच्छी हिन्दी बोलने लगी थी। देहाती किसानों के घर जाकर उनके साथ घरेलू बातें करने का उसे चसका लग गया था। साड़ी पहनने का उसने अभ्यास कर लिया था—और उस पर फबती भी अच्छी थी।

शैला बड़े कौतूहल से भारतीय वातावरण में नीले आकाश उजली धूप और सहज ग्रामीण शांति का निरीक्षण कर रही थी। वह बातें भी करती जाती थी। गंगा की लहर से सुन्दर कटे हुए बालू के नीचे कगारों में सुन्दर पक्षियों के एक छोटे से झुण्ड को विचरते देखकर उसने उनका नाम पूछा।

इन्द्रदेव ने कहा—इन्हें चक्रवाक कहते हैं। इनके जोड़े दिन भर साथ घूमते रहते हैं। किन्तु जब सन्ध्या होती है, तभी यह अलग हो जाते हैं। फिर ये रात भर नहीं मिलने पाते।

छावनी के उत्तर नाले के किनारे ऊँचे चौतरे की हरी-हरी दूबों से भरी हुई भूमि पर कुर्सी का सिरा पकड़े तन्मयता से शैला नाले का गंगा में मिलना देख रही थी।

दालान में चौबे जी उस लिए चाय बना रहे थे। सायंकाल का सूर्य अब लाल बिम्ब मात्र रह गया था। इन्द्रदेव तब तक नहीं आए थे।

शैला की तन्मयता भंग हुई। उसने रामदीन से पूछा—क्या अभी इन्द्रदेव नहीं आए।

नटखट रामदीन ने हँसी छिपाते हुए, एक आँख का कोना दबा कर, ओठ के कोने के ज़रा ऊपर दबा लिया। शैला उसे देख कर खूब हँसी। रामदीन कहने लगा—बड़ी सरकार आने वाली हैं, उनके लिए छोटी कोठी साफ कराने का प्रबन्ध देखने गए हैं।

इतने ही में बनारसी साड़ी का आँचल कन्धे पर से पीठ पर लटकाए, हाथ में छोटा सा बेग लिए, एक सुन्दरी वहाँ आकर खड़ी हो गई।

शैला ने पूछा—आप क्या चाहती हैं?

आने वाली ने नम्र मुस्कान से कहा—मेरा नाम मिस अनवरी है। मैं कुँअर साहब की माँ को देखने आया करती हूँ।

इसके बाद इन्द्रदेव भी आ गये। सब लोगों ने चाय पी। इन्द्रदेव ने अनवरी से कहा—माँ जब से आई हैं, तभी से आपको पूछ रही हैं। उनके रीढ़ में दर्द हो रहा है।

अनवरी तो वहाँ से उठने का नाम ही न लेती थी। वह कभी इन्द्रदेव और कभी शैला को देखती, फिर सन्ध्या की आने वाली कालिमा की प्रतीक्षा करती हुई, नीले आकाश से आँख उड़ाने लगती।

कुछ देर बाद अनवरी चली गई। इन्द्रदेव ने शैला से पूछा—माँ से तुम कब मिलेगी?

उसने कहा—चलूँ।

इन्द्रदेव ने कहा—अच्छा कल सवेरे।

इन्द्रदेव को सँभालने के ख्याल से अपनी पुत्री माधुरी को साथ लेकर श्यामदुलारी भी धामपुर आई थीं। वह धार्मिक मनोवृत्ति की स्त्री है; लोग कहते हैं, इन्द्रदेव के कानों में यह समाचार किसी मतलब से पहुँचा दिया गया कि आपके चरण छू कर चले आने पर माता जी ने फिर से स्नान किया, तो फिर वह मकान में न ठहर सके।

अनवरी, माधुरी और श्यामदुलारी के पास पहुँचती है। वहाँ पर हँसी दिलग्गी में माधुरी से शैला का भाँभी वाला सम्बन्ध जोड़ कर वह उसके मन की बातें प्रकट करा लेती है।

श्यामदुलारी और माधुरी शैला के प्रति विरोध प्रकट करती है। अनवरी उन लोगों का समर्थन करते हुए उस षड्यन्त्र में सहायक होती है। फिर कुछ दिनों के लिए वहाँ ठहर जाती है।

शैला और अनवरी आज साथ ही घूमने निकली थीं। शैला झोंपड़ी के पास जा कर खड़ी हो गई। उसने देखा, मधुआ अपनी टूटी खाट पर बैठा हुआ बंजो से कुछ कह रहा है। बंजो ने उत्तर में कहा—तब क्या करोगे मधुवन। अभी एक पानी और चाहिए, नहीं तो तुम्हारा आलू सूख कर ऐसे ही रह जायगा, ढाई रुपये के बिना। मँहगू महतो क्या उधार नहीं देंगे? मटर भी सूख जायगी।

अरे आज मैं मधुवन कहाँ से वन गया रे बंजो! पीट दूँगा अगर मुझे मधुआ न कहेगी, मैं तुम्हे तितली कह कर न पुकारूँगा सुना न! हल उधार नहीं मिलेगा, महतो ने साफ-साफ कह दिया है।

मधुवन कहता है—अच्छा, आज से मैं रहा मधुबन और तुम तितली यही न।

दोनों की आँखे एक क्षण के लिए मिलीं—स्नेहपूर्ण आदान-प्रदान करने के लिए, मधुबन खड़ा हुआ, तितली बाहर चली आयी; उसने देखा, शैला और अनवरी चुपचाप खड़ी हैं।

शैला पाँच रुपए का नोट तितली को दे रही थी;लेकिन उसने नहीं लिया। अन्त में उसने वह रुपया मधुबन को दिया, और दोनों वहाँ से चल पड़े।

मार्ग में चलते-चलते शैला कहती है—लन्दन की भीड़ से दबी हुई मनुष्यता से मैं ऊब उठी थी, और सबसे बड़ी बात तो यह है कि मैं भी दुख उठा चुकी हूँ, दुख के साथ दुखी की सहानुभूति होना स्वाभाविक है।

अनवरी कहती है—हम मुसलमानों को तो मालिक की मर्जी पर अपने को छोड़ देना पड़ता है, फिर सुख-दुख की अलग-अलग परख करने की किसको पड़ी है।

चलते-चलते वे दोनों छावनी पर पहुँचती हैं।

तहसीलदार बनजरिया पर बेदखली करने के लिए कागजपत्र इन्द्रदेव को दिखलाना चाहता था, और बुड्ढा रामनाथ अपनी सफाई देते कह रहा था—कृष्णार्पण माफी पर लगान कैसा?

अनवरी छोटी कोठी पर पहले ही चली गई थी। शैला, इन्द्रदेव और चौबे जी भी वहीं पहुँचे।

श्यामदुलारी ने इन्द्रदेव से पूछा—अच्छा बेटा! यह मेम साहब कौन हैं? इनका तो तुमने परिचय ही नहीं दिया।

इन्द्रदेव ने कहा—माँ इङ्गलैण्ड में यही मेरा सब प्रबन्ध करती थीं, मेरे खाने पीने का, पढ़ने लिखने का और कभी जब अस्वस्थ हो जाता तो डाक्टरों और रात-रात भर जाग कर, नियमपूर्वक दवा देने का काम यही करती थीं, इनका मैं चिरऋणी हूँ, इनकी इच्छा हुई कि मैं भारतवर्ष देखूँगी।

चौबे जी ने एक बार माधुरी की ओर देखा और माधुरी ने अनवरी को। तीनों का भीतर-ही-भीतर एक दल सा बँध गया, इधर माँ बेटे की ओर होने लगी—और शैला, जो व्यवधान था, उसकी खाई में पुल बनाने लगी।

इन्द्रदेव ने देखा कि उनके हृदय का बोझ टल गया। शैला ने माँ के समीप पहुँचने का अपना पथ बना लिया, उन्होंने इसे अपनी विजय समझी।

माधुरी का क्रोध कपोलों पर लाल हो रहा था।

मानव-स्वभाव है; वह अपने सुख को विस्तृत करना चाहता है, और भी केवल अपने सुख से ही वह सुखी नहीं होता, कभी-कभी दूसरों को दुखी करके, अपमानित करके, अपने मन को, सुख को प्रतिष्ठित करता है।

अनवरी ने माधुरी के मन में जो आग लगाई है, वह कई रूप बदल कर उसके कोने-कोने को झुलसाने लगी है।

माधुरी के गौरव की चाँदनी शैला की ऊषा में फीकी पड़ेगी ही, इसकी दृढ़ संभावना थी, एक सम्मिलित कुटुम्ब में राष्ट्रनीति ने अधिकार जमा लिया। स्वपक्ष और पर पक्ष का सृजन होने लगा।

चौबे माधुरी की तरफ थे, मोटर पर बैठते हुए अनवरी ने कहा—घबराइए मत चौबे जी, बीबी रानी आपके लिए कोई बात उठा न रखेंगी।

मधुबन के लिए वंश गौरव का अभिमान छोड़ कर, मुकदमे में सब कुछ हार कर, जब उसके पिता मर गए, तो उसकी बड़ी विधवा बहन ने आकर भाई को सम्हाला था, उसकी ससुराल सम्पन्न थी; किन्तु विधवा राजकुमारी के दरिद्र भाई को कौन देखता? उसी ने शेरकोट के खंडहर में दीपक जलाने का काम अपने हाथों में लिया, वह आज जब से गगा स्नान करके लौटी है, तभी से उत्तेजित हो रही थी, मधुबन का हल चलाना उसे पसन्द न था, वह बाबा रामनाथ को कोसती थी, क्योंकि उनका कहना था—हल चलाने से बड़े लोगों की जात नहीं चली जाती, अपना काम नहीं करेंगे, तो दूसरा कौन करेगा।

मलिया छावनी पर नौकरी करती थी।

छावनी की बातें उससे राजकुमारी सुन रही थी, कोई भी स्वार्थ न हो किन्तु अन्य लोगों के कलह से थोड़ी देर मनोविनोद कर लेने की मात्रा मनुष्य

की साधारण मनोवृत्तियों में प्रायः मिलती है, राजकुमारी के कुतूहल की तृप्ति भी उससे क्यों न होगी।

बाबा रामनाथ अपनी कहानी सुनाते हैं, जिसमें यह प्रकट होता है कि वार्टली नाम के एक अंगरेज की नील की एक कोठी थी, अपनी बहन जेन के विशेष अनुरोध करने पर भी वह इंगलैण्ड नहीं जाना चाहता था, क्योंकि भारत के किसानों में उसका काफी रुपया फँसा था। वार्टली के कारण ही देवनन्दन की समस्त भूसम्पत्ति नीलाम हो गयी थी। उसका सब कुछ चला गया था। एक कन्या को छोड़ कर शेष परिवार के सभी लोग चल बसे।

परदेश में रामनाथ से उसकी भेंट होती है। तितली को रामनाथ के हाथों में सौंप कर उसका भी अन्त हो जाता है।

आगे बुड्ढा कुछ न कह सका क्योंकि तितली सचमुच चीत्कार करती हुई मूर्छित हो गई। शैला उसके पास पहुँच कर उसे प्रकृतिस्थ करने में लग गई। इन्द्रदेव आराम कुर्सी पर लेट गए, और सुनने वाले धीरे-धीरे खिसकने लगे।

पूस की चाँदनी गाँव के हल्के कुहासे के रूप में साकार हो रही थी। शीतल-पवन जब घनी अमराइयों में हरहराहट उत्पन्न करता तब स्पर्श न होने पर भी, गाढ़े के कुर्ते पहनने वाले किसान अलावों की ओर खिसकने लगते। शैला खड़ी होकर एक ऐसे ही अलाव का दृश्य देख रही थी, जिसके चारों ओर छः सात किसान बैठे तम्बाकू पी रहे थे।

मधुबन ने शैला को नमस्कार करते हुए पूछा—क्या कोई काम है? कहीं जाना हो तो मैं पहुँचा दूँ।

शैला ने कहा—नहीं मधुबन, मैं भी आग के पास बैठना चाहती हूँ।

वहाँ पर नील कोठी के सम्बन्ध में बातें होती हैं। वह यहाँ से कितनी दूर पर है, शैला पूछती है। महँगू से उसे सब बातें मालुम होती हैं।

शैला नील कोठी देखना चाहती है; लेकिन उस भुतही कोठी में इस

रात के समय जाने का कोई साहस नहीं करता। अन्त में मधुबन प्रस्तुत होता है, और उसके साथ रामजस भी। दोनों के साथ शैला वहाँ जाती है।

मार्ग में तहसीलदार के सम्बन्ध में बातें होती हैं। मधुबन बतलाता है, किसी समय इसी तहसीलदार ने गुदाम वाले साहब से एक बात पर उभाड़ कर मेरे पिता जी को लड़ा दिया था, मुकदमे में जब मेरा सब कुछ साफ हो गया तो उसने धामपुर की छावनी में नौकरी कर ली। मैं किसी दिन इसकी नस तोड़ दूँ तो मुझे चैन मिले। इसके कलेजे में कतरनी जैसे कीड़े दिन रात कलबलाया करते हैं।

शैला नील कोठी पहुँच गई, वह पत्थर की पुरानी चौकी पर बैठकर सूखती हुई झील को देखने लगी। देखते-देखते उसके मन में विषाद और करुणा का भाव जाग्रत होकर उसे बनाने लगा। शैला को दृढ़ विश्वास हो गया कि जिस पत्थर पर वह बैठी है, उसी पर उसकी माता जेन आकर बैठती थी। जिस दिन से उसे वार्टली और जेन का सम्बन्ध इस भूमि से विदित हुआ, उसी दिन से उसकी मानस लहरियों में हलचल हुई। बाल्य-काल की सुनी हुई बातों ने उसे विश्वास दिलाया कि उसकी माता जेन ने, अपने जीवन के सुखी दिनों को यहीं बिताया है। अब सन्देह का कोई कारण नहीं रहा। अज्ञात नियति की प्रेरणा उसे किस सूत्र से यहाँ खींच लाई है, यही उसके हृदय का प्रश्न था।

शैला नील कोठी से चली आ रही थी, वह सोचने लगी—

नियति दुस्तर समुद्र को पार करती है। चिरकाल के अतीत को वर्तमान से क्षणभर में जोड़ देती है, और अपरिचित मानवता-सिन्धु में उसी एक से परिचय करा देती है, जिससे जीवन की अग्रगामिनी धारा अपना पथ निर्दिष्ट करती है, कहाँ भरात कहाँ मैं और कहाँ इन्द्रदेव! और फिर तितली जिसके कारण मुझे अपनी माता की उदारता के स्वर्गीय-संगीत सुनने को मिले, यह पावन प्रदेश देखने को मिला।

वह कच्ची सड़क से धीरे-धीरे चली जा रही थी, एकाएक मोटर रोककर अनवरी ने कहा -छावनी पर ही चल रहीं है न। आइये न !

शैला ने कहा—आप चलिए मैं आती हूँ।

अनवरी ने कृष्णमोहन से कहा—यह तुम्हारी मामी है, उन्हे जाकर बुलाओ ।

कृष्णमोहन ने नमस्कार करते हुए कहा—आइये न !

कृष्णमोहन अपने विलासी पिता श्यामलाल की लापरवाही के कारण माधुरी के साथ ही रहता था।

शैला मोटर पर बैठ गई।

सहसा एक दिन इन्द्रदेव को यह चेतना हुई कि वह जो कुछ पहले थे, अब नहीं रहे, उन्हें पहले से भी कुछ-कुछ ऐसा भास होता था कि पर्दे पर एक दूसरा चित्र तैयारी से आनेवाला है; पर उसके इतना शीघ्र आने की सम्भावना न थी। शैला की स्थिति क्या होगी ? इस सम्बन्ध में वह बार-बार सोचने लगे, उसका गौरव बनाने के लिए कभी-कभी वह उससे मुक्त होने की चेष्टा करने लगते ।

उनके कुटुम्ब वालो के मन में शैला को वेश्या से अधिक समझने की कल्पना भी नहीं हो सकती थी, इस कारण वह व्यथित रहता।

इधर शैला बाबा रामनाथ के यहाँ हितोपदेश पढ़ने भी जाती थी, अर्थात् इन्द्रदेव और शैला दोनों ही अपने को बहलाने की चेष्टा में थे।

इन दिनो इन्द्रदेव के परिवार में घटनाएँ बड़े वेग से विकसित हो रही थीं। एक दिन इन्द्रदेव ने शैला से कहा—मैं इस लिए चिन्तित हूँ कि अपना और तुम्हारा सम्बन्ध स्पष्ट कर दूँ। यह ओछा अपवाद अधिक सहन नही किया जा सकता।

शैला कहती है—दूसरे मुझको क्या कहते हैं। इस पर इतना ध्यान देने की आवश्यकता नहीं......अब मैं तुमसे अलग होने की कल्पना करके दुखी होती हूँ। किन्तु थोड़ी दूर हटे बिना भी काम नहीं चलता। तुमको और

अपने को समान अन्तर पर रख कर, कुछ दिन परीक्षा लेकर तब मन से पूछूँगी।

इन्द्रदेव ने कहा—क्या पूछोगी शैला?

शैला ने गम्भीरता से उत्तर दिया—हम लोगों के पश्चिमीय जीवन का यह संस्कार है कि व्यक्ति को स्वावलम्ब पर खड़े होना चाहिए। तुम्हारे भारतीय हृदय में, जो कौटुम्बिक कोमलता में पला है, परस्पर सहानुभूति की सहायता की बड़ी आशाएँ परम्परागत संस्कृति के कारण, बलवती रहती हैं। किन्तु मेरा जीवन कैसा रहा है, उसे तुम से अधिक कौन जान सकता है? मुझ से काम लो और बदले में कुछ दो।

अनवरी को आते देख कर उल्लास से इन्द्रदेव ने कहा—शैला शेरकोट वाली बात अनवरी से माँ तक पहुँचाई जा सकती है।

शैला प्रतिवाद करना ही चाहती थी कि अनवरी सामने आकर खड़ी हो गई। उसने कहा—आज कई दिन से आप उधर नहीं आई हैं। बड़ी सरकार पूछ रहीं थीं कि......

अरे पहले बैठ तो जाइये—कुर्सी खिसकाते हुए शैला ने कहा—मैं तो स्वयं अभी चलने के लिए तैयार हो रहीं थी।

अनवरी ने कहा—अच्छा।

शैला ने कहा—हाँ शेरकोट के बारे में रानी साहिबा से मुझे कुछ कहना था। मेरे भ्रम से एक बड़ी बुरी बात हो रही है, उसे रोकने के लिए......

क्या?—अनवरी ने पूछा।

मधुबन बिचारा अपनी झोंपड़ी से भी निकाल दिया जायगा। वही उसके बाप दादाओं की डीह है। मैंने बिना समझे बूझे बैंक के लिए वहीं जगह पसंद की। उस भूल को सुधारने के लिए मैं अभी ही वहाँ जाने वाली थी।

मधुबन हाँ, वही न जो उस दिन रात को आपके साथ था, जब आप

नील कोठी से आ रही थीं। उस पर तो आपको दया करनी चाहिए—कह कर अनवरी ने भेद भरी दृष्टि से इन्द्रदेव की ओर देखा।

इन्द्रदेव कुर्सी छोड़ कर खड़े हुए।

शैला ने निराश दृष्टि से उनकी ओर देखते हुए कहा—मेरी दया में आपकी सहायता की भी आवश्यकता हो सकती है, चलिए।

मधुबन की बहिन राजकुमारी से बाबा रामनाथ, तितली और मधुबन के सम्बन्ध मे बात करते हैं।

गगातट पर रामनाथ, राजकुमारी, शैला और तितली सभी स्नान के लिए जाती हैं, आपस में सब से बातचीत हुई।

राजकुमारी का हृदय स्निग्ध हो रहा था, उसने देखा, तितली अब वह चंचल लड़की न रही, जो पहले मधुबन के साथ खेलने आया करती थी; उसकी काली रजनी सी उनींदीं आँखें जैसे सदैव कोई गम्भीर स्वप्न देखती रहती हैं, लम्बा छरहरा बदन, गोरी पतली उँगलियाँ, सहज उन्नत ललाट, कुछ खिचीं हुई भौहें और छोटा सा पतले पतले अधरों वाला मुख, साधारण कृषक बालिका से कुछ अलग अपनी सत्ता बता रहे थे, कानों के ऊपर से घूँघट था, जिससे लटें निकली पड़तीं थीं, उसकी चौड़े किनारे की धोती का चम्पई रंग उसके शरीर में घुला जा रहा था, वह सन्ध्या के निरंभ गगन में विकसित होने वाली--अपने ही मधुर आलोक से सन्तुष्ट-- एक छोटी सी तारिका थी।

सुखदेव चौबे राजकुमारी के ससुराल के समीप रहने वाला चिर परिचित पड़ोसी था, घटनावश एक दिन उससे राजकुमारी से भेंट होती है, चौबे ने तितली का इन्द्रदेव से विवाह करने का नया षड्यंत्र उपस्थित किया, राजकुमारी इस कार्य में सहायक हो, यही चौबे का विचार था।

उस दिन मधुबन घर लौटकर आया तो उसने राजकुमारी को एक नई अवस्था में देखा, उस दिन भोजन नहीं पका था, वह चुपचाप जल पी कर चला गया।

राजकुमारी ने सब देख समझ कर कहा—हूँ ! अभी यह हाल है तो तितली से ब्याह हो जाने पर धरती पर पैर ही न पड़ेंगे।

बाबा रामनाथ और शैला में परस्पर अपने अपने देश के जीवन संबंधी सिद्धान्तों पर वार्तालाप होता है। रामनाथ आर्य सभ्यता तथा उसके सिद्धान्तों के पोषक हैं और शैला अपने पाश्चात्य व्यावहारिक सिद्धान्त की। अन्त में रामनाथ ही की विजय होती है और शैला भारतीय सिद्धान्तों में प्रभावित हो कर बाबा रामनाथ से दीक्षा लेने के लिए तैयार हो जाती है।

राजकुमारी तभी से अपने भाई और तितली से विमुख रहने लगी। शेरकोट में वह अकेले ही रहती थी। मधुबन, नौकरी लग जाने के कारण अपनी पत्नी के साथ नील की कोठी में ही रहने लगा था।

स्वतन्त्रता पाकर जवानी की उमंगें राजकुमारी के मन में फिर से उठने लगीं। मधुबन को भी राजकुमारी के चरित्र पर सन्देह हो चला था। किन्तु उसकी वही दशा थी, जैसे कोई मनुष्य भय से आँखें मूँद लेता है। वह नहीं चाहता था कि अपने सन्देह की परीक्षा कर के कठोर सत्य का नग्न रूप देखे।

गाँव के पंडित दीनानाथ की लड़की का ब्याह था। राजकुमारी की इच्छा भी खूब सजधज कर वहाँ जाने को हुई। उसने अपने बालों पर कंघी बड़े मनोयोग के साथ की। दर्पण उठा कर कई बार उसने अपना मुँह देखा। एक छोटी सी बिन्दी लगाने के लिए उसका मन ललच उठा। रोली, कुंकुम, सिन्दूर वह लगा नहीं सकती थी, तब ? उसने नियम, धर्म और अपनी उत्कृष्ट अभिलाषा की मर्यादा रखते और चूने की बिन्दी लगा कर बचा ली। फिर से दर्पण देखा। वह अपने ऊपर रीझ उठी। हाँ, उसमें वह शक्ति आ गई थी कि पुरुष एक बार उसकी तरफ देखता।

लेकिन वैधव्य ने बेचारी राजकुमारी से शृंगार धारण करने का अधिकार छीन लिया था। बड़े दुःख से माथे की बिन्दी मिटा कर वह दीनानाथ के घर गई। शादी के वातावरण और हँसी-दिल्लगी से राजकुमारी के नस-नस में

बिजली सी दौड़ गई। बाहर वेश्या गा रही थी, 'लगे नैन बालेपन से' राजकुमारी बहुत ही अधिक विचलित हो उठी। रात में ही वहाँ से शेरकोट लौट जाने के विचार से वह सुखदेव चौबे के साथ निकल पड़ी। रसीली चाँदनी की आर्द्रता से मन्थर पवन अपनी लहरों से राजकुमारी के शरीर में रोमांच उत्पन्न करने लगा था। सुखदेव ज्ञान विहीन मूक पशु की तरह, उस आम की अँधेरी छाया में राजकुमारी के परवश शरीर के आलिङ्गन के लिए चंचल हो रहा था। राजकुमारी की गई हुई चेतना फिर लौट आई। अपनी असहायता में उसका नारीत्व जाग उठा। उसने चौबे को चुपचाप शेरकोट तक पहुँचाने के लिए विवश किया।

माधुरी का पति श्यामलाल बहुत ही दुराचारी था। वह धामपुर आया हुआ था। पूरे गाँव को अपनी ससुराल समझ कर उसने जिस-तिस स्त्री पर अत्याचार करना शुरू कर दिया। इसके बाद एक दिन माधुरी के देखते ही देखते वह अनवरी के साथ कलकत्ते लौट गया। इस अपमान से माधुरी क्षुब्ध हो उठी थी। शैला ने उसे सान्त्वना दी। उसे भी लगा, जैसे शैला के बारे में बँधी हुई उसकी धारणायें ग़लत हैं। श्यामदुलारी को भी यही अनुभव होने लगा। उन्होंने शैला से सलाह कर यह निश्चय किया कि अपनी जायदाद वह माधुरी के नाम कर दे। इन्द्रदेव कुछ दिन पहले ही ऊब कर बनारस चले गये थे तथा वहाँ बैरिस्टरी शुरू कर दी थी। इसलिए शैला, माधुरी और श्यामदुलारी काग़ज़ात की रजिस्ट्री आदि के लिए बनारस गईं। वहीं इन्द्रदेव और शैला का विवाह भी हो गया।

शैला का विचार गाँव में एक बैंक, औषधालय, ग्रामसुधार और प्रचार विभाग खोलने का था। उसने सोचा था कि इन सब संस्थाओं के एक ही स्थान पर रहने से उन पर वह ठीक तरह से नियंत्रण रखने में सफल होगी। गाँव के तहसीलदार ने, जो समृद्धि के दिनों में मधुबन के पिता का नमक खा चुकने की वजह से इस 'बिगड़ी के ज़माने' में मधुबन पर अपने प्रभुत्व की छाप जमाना चाहता था, इन्द्रदेव की आज्ञा पर शैला के लिए

शेरकोट को ही पसन्द किया था। परन्तु जब उसे यह मालूम हुआ कि शेरकोट मधुबन के रहने का स्थान ही नहीं, वरन केवल उसके कारण ही उसकी पैतृक विभूति का चिराग़ भी टिमटिमा रहा है, वह उस पर अपना आधिपत्य जमाने को तैयार नहीं हुई।

शैला ने नील की कोठी इन्द्रदेव से माँग ली।

बाबा रामनाथ मधुबन और तितली का विवाह कराने के इच्छुक थे। उधर माधुरी, अनवरी और सुखदेव चौबे इन्द्रदेव के ऊपर से शैला का प्रभाव हटाना चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि किसी दूसरी लड़की से उनका व्याह करा दिया जाय। सुखदेव चौबे इस षड्यंत्र के अगुआ बने। चौबे की राजकुमारी से ससुराली रिश्तेदारी थी। वह उसके पुरोहित वंश का था। देवर भाभी का नाता था, व्यङ्ग विनोद की चुटकियाँ आपस में चलती थीं। उसने राजकुमारी के कान भरे। राजकुमारी इस विवाह के विरोध में हो गई। उसने बाबा रामनाथ से भी अपना विरोध प्रकट किया। रामनाथ ने उसकी कोई बात नहीं सुनी। वरन् इस ख्याल से कि आगे चलकर यह षड्यंत्र और ज़ोर न पकड़े। उन्होंने तितली और मधुबन का विवाह भी उसी दिन कर दिया, जिस दिन शैला को हिन्दू धर्म में दीक्षित किया। स्वयं इन्द्रदेव उसके गवाह थे।

इनके जाते ही गाँव में तहसीलदार का अत्याचार बढ़ने लगा। मधुबन से शेरकोट और बनजरिया बकाया लगान में छीन ली गई। राजकुमारी तहसीलदार से मुक़दमा लड़ने की गरज़ से महन्त जी के पास कुछ रुपया उधार लेने गई। महन्त वासना का शिकार होकर उसकी तरफ बढ़ा। राजो चिल्लाई। मधुबन बाहर ही छिपा हुआ खड़ा था। क्रोध के आवेश में चहार दीवारी फाँद कर वह अन्दर आया, तथा निर्दयता-पूर्वक महन्त की गर्दन घोंट दी।

खून कर मधुबन भागा। चुनार होता हुआ कलकत्ता गया। पहले कुलीगिरी की, फिर रिक्शा हाँकने लगा। कलकत्ते की पुलिस के चक्कर में

बेचारा मधुवन एक दिन निर्दोष ही, डाके के अपराध में गिरफ्तार कर लिया गया। उसे दश वर्ष की क़ैद होगई।

मधुवन जब महन्त की हत्या कर गाँव से भागा था, तितली गर्भवती थी। और इस लम्बी अवधि में उसका वह गर्भस्थ शिशु भी बढ़ कर अब चौदह वर्ष का हो गया था। तितली शैला के साथ ग्राम पाठशाला, ग्राम संगठन आदि कार्यों में हाथ बँटाती थी। मोहन अपने पिता के लिए माँ से ज़िद करता था। एक दिन उसे ज्वर चढ़ आया।

'लड़का कहता है, माँ पिता जी...'

'हाँ बेटा, तेरे पिता जी जीवित हैं। मेरा सिन्दूर देखता नहीं'—तितली लड़के को सान्त्वना देकर सुला देती है। वह सोचने लगी, इतने दिन बीत गए, क्या मधुबन अब लौट कर घर नहीं आयेगा?

सोचते सोचते वह विकल हो उठी। उसने पागलों की तरह मोहन को प्यार किया, उसे चूम लिया। अचेत मोहन करवट बदल कर सो रहा। तितली ने किवाड़ खोले।

'उसने देखा, आकाश का अन्तिम कुसुम दूर गंगा की गोद में चू पड़ा, और सजग होकर सब पक्षी एक साथ ही कलरव कर उठे। साथ ही उसने देखा, जीवन युद्ध का थका हुआ सैनिक मधुबन विश्राम शिविर के द्वार पर खड़ा था।'

इरावती

इरावती प्रसाद का ऐतिहासिक उपन्यास है। सालवती कहानी लिखने के समय जो अध्ययन की सामग्री उनके सम्मुख थी ; उसको लेकर आगे बढ़ने के लिए इरावती का कथा भाग बनता है।

प्रसाद की यह अन्तिम रचना अधूरी रह जाती है, इसका हिन्दी-साहित्य को मार्मिक आघात है।

इरावती उपन्यास को आरम्भ करते समय लेखक ने कुछ संकेत नोट किये थे जिनके आधार पर उपन्यास खड़ा किया जाता।

दुःख इस बात का है कि इस उपन्यास के आगे बढ़ने वाले कथानक के सम्बन्ध में प्रसाद जी से कभी बातें नहीं हुई।

एक दिन अपनी रुग्णावस्था में उन्होंने हम लोगों से कहा—एक लेखक महोदय मेरे इरावती उपन्यास को पूरा करना चाहते हैं।

हम लोग उनका नाम जानने के लिये उत्सुक हो उठे। प्रसाद जी ने बतलाया। उनका नाम सुनते ही हम लोग हँस पड़े।

मैंने कहा—अपनी रचनाओं को आप ही पूरा कर सकते हैं। दूसरे किसी की इतनी क्षमता नहीं दिखाई पड़ती।

आज भी इरावती पढ़ कर समाप्त करने के बाद मुझे अपने वे शब्द याद आ रहे हैं, जैसे वे ही शब्द गूँज रहे हैं। प्रसाद जैसी लेखन-कुशलता प्राप्त करना साधारण बात नहीं। वह अपने निर्मित चरित्रों पर कितने प्रकार से प्रकाश की किरणें बिखेरते थे, यह अध्ययनशील पुरुषों से छिपा नहीं है।

इस उपन्यास के सम्बन्ध में कुछ कहने के पूर्व हम उनके नोट किए हुए संकेतों को यहाँ खोलना चाहते हैं।

(१) मणिमाला में वेश्या भाव और इरावती में कुलवधू प्रवृत्ति, दोनों का अन्तर।

इरावती और मणिमाला का वैसा ही चित्रण हुआ है। इरावती नर्तकी होते हुए भी मगध-सम्राट् बृहस्पतिमित्र के प्रणय-प्रदर्शन को तिरस्कार की दृष्टि से देखती है। बन्दी होकर कष्टों के दिनों में भी वह अपने चरित्र पर अटल रहती है। दूसरी ओर मणिमाला कुलवधू होते हुए भी अपनी मनोवृत्तियों के कारण नीचे गिरती है। धनदत्त जब दो वर्षों के बाद विदेश से लौटता है, तब उसे अपनी पत्नी पर सन्देह होता है। अतएव इन दोनों के अन्तर को दिखाना ही लेखक का प्रधान उद्देश्य प्रतीत होता है।

(२) खारवेल का रत्न खरीदने आना और कालिन्दी के चक्र में फँस जाना।

उपन्यास के अन्तिम परिच्छेद में कलिग का राजा खारवेल स्वर्ण-प्रतिमा लेने के लिये सम्राट् का निमंत्रण पाकर मगध जाता है। एक दिन उसी स्वर्ण-प्रतिमा के लिये कुछ रत्न खरीदने, धनदत्त के यहाँ जाता है। वहीं कालिन्दी और इरावती से साक्षात होता है। खारवेल दोनों ही से प्रभावित होता है। मुझे तो ऐसा विश्वास होता है कि कथानक में आगे चल कर लेखक कालिन्दी से खारवेल का विवाह कराता, क्योंकि कालिन्दी भी नन्द वंश की राजकुमारी थी।

(३) ब्रह्मचारी और आजीवक का विवाद—किसी भी तरह तुम स्व की चेतना नहीं भूल पाते —वह चीवर, वह पात्र मेरा है, इससे परे दूसरे का है—और मैं भी नहीं हूँ। यह दर्शन समझ में नहीं आता है। मैं कहता हूँ स्व और उसके अतिरिक्त जो कुछ है, सब को स्व बना सकूँ तो यह दुःख, भेद मूलक क्लेश छूट सकता है। सारा विश्व महेश्वर का शरीर है। इसमें चैतन्य जीवों की समष्टि है। एक इकाई रूप

बदलती है, दूसरा बनता है। उसमें हम सब उसी तरह हैं, जैसे मेरे एक रक्त बिन्दु में अनेक जीवाणु और वह रस की तरह अपने आनन्द से सब को सजीव रखता है।

ब्रह्मचारी के आनन्द प्रचार की भावना इसी सिद्धान्त के अनुसार होती है।

(४) बौद्ध स्थविर की आज्ञा, युद्ध न होना चाहिये। छल से सब पराभूत किये जा सकते हैं। लड़ें भी तो जैन खारवेल और यवन। मगध के धार्मिक बौद्ध तटस्थ।

बौद्ध स्थविर का चरित्र अभी तक विशेष रूप से नहीं उपस्थित किया गया है; किन्तु यवनों के आक्रमण और खारवेल के आ जाने के बाद आगे के कथानक मे हो सकता है कि चाणक्य की तरह बौद्ध स्थविर का चरित्र विशेष रूप में रखा जाता, जिसमें उसकी छलनीति द्वारा सब पराभूत किये जाते।

(५) कालिन्दी किसी तरह खारवेल से इरावती का सामना करा देती है, वह गन्धर्व वेद का ज्ञाता इरावती का नृत्य देखने का हठ करता है।

कालिन्दी, इरावती को साथ लेकर ही खारवेल का सामना करती है। यह अंतिम अंश में स्पष्ट है। इरावती का कथा भाग संक्षिप्त रूप में रख कर, उसके अन्त के सम्बन्ध में हम कुछ संकेत देना चाहते हैं।

कथा भाग—उसकी आखे आकांक्षा विहीन सन्ध्या और उल्लास विहीन ऊषा की तरह काली और रतनारी थीं। कभी-कभी उनमें दिग्दाह का भ्रम होता; वे जल उठतीं; परन्तु फिर जैसे बुझ जातीं। वह न वेदना थी, न प्रसन्नता। उसके घुंघराले बाल जटा न बन पाये। छोटी-छोटी स्वतः बढ़ने-वाली दाढ़ी भी कुछ योंही कालिमा से उसकी सुवर्ण-त्वचा को रेखांकित कर रही थी। शरीर केवल हाड़ से बना प्रतीत होता था। परन्तु उसमें बल का अभाव नहीं था। वह अभी आकर क्षिप्रा के शीतल जल से स्नान कर घाट पर बैठा था। उसके मणिबन्ध में, किसी नागरिक के जूड़े की क्षिप्रा में गिरी हुई माला पड़ी थी। उसमें अभी गन्ध थी, फिर भी उसे सूँघने की इच्छा

नहीं। वह परदेशी था। उसकी एक छोटी गठरी वहीं पड़ी थी। क्षिप्रा में जल विहार करने वालों की कमी न थी। वसन्त की सन्ध्या में आकाश प्रसन्न था। प्रदोष का रमणीय समय, किन्तु वह तो अनमना, थका सा! तब भी जैसे इन सब की वह उपेक्षा कर रहा था।

तूर्यनाद और दुन्दुभि गूँजने लगी। चारों ओर जैसे हलचल मची। लोग उठ कर चलने लगे। परन्तु वह स्थिर बैठा रहा। किसी ने पूछा 'तुम न चलोगे क्या?'

'कहाँ?'

'मन्दिर में!'

'किस मन्दिर में?'

'यहीं महाकाल की आरती देखने।'

'अच्छा!' कह कर भी वह उठा नहीं। घाट जनशून्य हो गया। मन्दिर की पताका धूमिल आकाश में लहरा रही थी। वह बैठा रहा। परन्तु चपल घोड़ों से सज्जित एक पुष्परथ, वहीं घाट के समीप आकर रुका। उस पर बैठे हुए युवक ने सारथी से कहा--बस यहीं, किन्तु वे सब कहाँ है? अभी नहीं आए?

इतने में अश्वारोहियों की एक छोटी-सी टुकड़ी वहीं आकर खड़ी हुई। रथी ने कुछ संकेत किया, सब उतर पड़े। क्षिप्रातट के बट की शाखाओं में घोड़ों की रास अटका दी गई। कुछ परिचारक भी दौड़ते हुए आये। वे सब वहीं ठहर गये, केवल एक उल्काधारी महाकाल के गोपुर की ओर बढ़ने लगा। पीछे पीछे ये लोग चले। रथी का डील-डौल साधारण था, किन्तु प्रभाव असाधारण। उसके समीप से लोग हट जाते थे।

उस दिन उज्जयिनी के महाकाल के मन्दिर में समारोह था। महाकाल का प्रदोष-पूजन भारत विख्यात था। उसमें भक्ति और भाव दोनों का समावेश था। सात्विक पूजा के साथ नृत्य गीत कला का समावेश था, इस लिए बौद्ध शासन में भी उज्जयिनी की वह शोभा सजीव थी।

सहसा मृदङ्ग और वीणा बजी; न जाने किधर से, नुपूर को झनकारती हुई, ऐक देवदासी आकर खड़ी हो गई। भावाभिनय और नृत्य साथ साथ चला। मगध के मौर्य सम्राज्य का कुमारामात्य बृहस्पतिमित्र इन सब दृश्यों को देख कर कहता है—यह देव मन्दिर है या रंगशाला?

अपनी गठरी लेकर आया हुआ पथिक अग्निमित्र मगध के महादंड नायक पुष्ममित्र का पुत्र था। वह मुग्ध हो कर नर्तकी इरावती को देख रहा था। वह कुछ पहिचानने लगा था। कुछ बोलना ही चाहता था, तभी कुमार बृहस्पतिमित्र आज्ञा देता है। देव मन्दिर के नाम पर विलासिता का प्रचार बन्द करो।

महाकाल का ब्रह्मचारी पुजारी इस आज्ञा का विरोध करता है।

आज्ञा का पालन न होने के कारण बृहस्पतिमित्र दूसरी आज्ञा देता है—'कहाँ है उज्जयिनी का प्रादेशिक महामात्य; उसी को मेरे आगमन की सूचना दो! और इस नर्तकी को पकड़ कर दुर्ग में ले जाओ।'

दर्शकों में भगदड़ पड़ी, रंग में भंग हुआ। अग्निमित्र इरावती की सहायता करना चाहता है; लेकिन इरावती कहती है—मैं बन्दी होना चाहती हूँ।

कुमार बृहस्पतिमित्र कहता है—मैं वेश्याओं से घिरी हुई देव प्रतिमा से घृणा करता हूँ।

अब ब्रह्मचारी से नहीं रहा गया। उसने कहा—धर्म क्या है और क्या नहीं है। यह महाकाल मन्दिर का आचार्य महामात्य से सीखना नहीं चाहता।

कुमार का क्रोध अब आपे में न रह सका; उसने उच्च कंठ से कहा—तो सुनो मौर्य साम्राज्य की प्रधान नीति धर्म संशोधन की है, अनाचार राष्ट्र में न हो पाएगा।

ब्रह्मचारी की आँखों से एक बार फिर ज्वाला निकली; उसने कहा—किन्तु भगवान का ताण्डव नृत्य क्या है? यह तुम नहीं जानते कुमार! उस नृत्य को रोकने की किसकी क्षमता है? तुम्हारी समस्त शक्ति उस शक्तिनाथ

की विभूति का एक कण मात्र है। बड़े-बड़े साम्राज्य और सम्राट् उसकी एक ही दृष्टि में नाश होते हैं, सावधान!...

ब्रह्मचारी का वाक्य पूरा होने भी नहीं पाया था कि कुमार बृहस्पतिमित्र को समाचार मिलता है, सम्राट् शत धनुष को निर्वाण पद प्राप्त हो गया है।

उपासकों ने कहा—यह महाकाल का कोप है।

नर्तकी बन्दी होती है और बृहस्पतिमित्र सम्राट् बनकर पाटलिपुत्र की ओर चल पड़ा।

इधर इरावती और अग्निमित्र के पूर्व प्रेम का रहस्य खुलता है। इरा उससे कहती है—क्या बिना मुझसे पूछे तुम रह नहीं सकते? अग्नि, मैं जीवन रागिनी में वर्जित स्वर हूँ, मुझे छेड़ कर तुम सुखी न हो सकोगे।

अग्निमित्र कहता है—तुम तो भिक्षुणी बनने जा रही हो इरा।

इरा कहती है—देवता के सामने नाच चुकी, अब देखूँ अदेवता अनात्म मुझे कौन सा नाच नचाता है।

इरावती ने उन भिक्षुणियों के साथ प्रस्थान किया जो दूर प्रांगण में उसकी प्रतीक्षा कर रही थीं।

भिक्षुणी संघ विहार में, एक दिन इरा चाँदनी रात में अपने नृत्य में तन्मय हो जाती है।

आश्चर्य और क्रोध भरे भिक्षुकों का एक दल बाहर आया। उन लोगों ने देखा सचमुच इरा नाच रही है। सौन्दर्य का उन्मुक्त उल्लास, उनका क्रोध, उनकी फटकार, क्षण भर के लिये स्थगित हो रही, जैसे वे भी इस अद्भुत उन्माद को हृदयंगम कर लेना चाहते थे।

बौद्ध-स्थविर के रुष्ट होने पर इरावती कहती है—मेरे पास नृत्य को छोड़ कर और है ही क्या? आज इतने स्त्री पुरुष के समारोह में तो अपना कर्तव्य समझ कर ही नृत्य कर रही थी, यह भी अपराध है, तब मुझे छुट्टी दीजिये।

इरावती के इस नृत्य के कारण भिक्षुणी संघ की प्रवारणा स्थगित की गई।

इरावती चुपचाप क्षिप्रा नदी के तट पर जा कर खड़ी हुई। रात्रि का

तृतीय प्रहर था, और वह अपने जीवन के प्रथम प्रहर में थी। रात की निस्तब्धता उसके हृदय की धड़कन को और स्पष्ट करने लगी।

सहसा वह देखती है, एक छोटी सी नाव चली जा रही है और नाव पर महाकाल के ब्रह्मचारी के सामने, दोनो हाथों से डाँड़ चलाता हुआ अग्निमित्र बैठा बातें कर रहा है। ब्रह्मचारी कह रहा था—आर्य धर्म का आरम्भिक उल्लासमय स्वरूप यद्यपि अभी एक बार ही नष्ट नहीं हो गया, फिर भी उसे जगाना पड़ेगा। सर्व साधारण आर्यों में अहिंसा, अनात्म के नाम पर जो कायरता, विश्वास का अभाव और निराशा का प्रचार हो रहा है, उसके स्थान पर उत्साह साहस औा आत्मविश्वास की प्रतिष्ठा करनी होगी।

अग्निमित्र इरा को देखता है। इरा कहती है—मैं तुम्हारे साथ चलना चाहती हूँ, ठहरो नाव रोको।

उसी समय उसे कुसुमपुर ले जाने के लिये सम्राट् की आज्ञानुसार कुछ सैनिक आते हैं। इरा नदी में कूद पड़ती है, अग्निमित्र उसे बचाता है। अन्त में दोनों बन्दी हो कर कुसुमपुर जाते हैं और ब्रह्मचारी उत्तराखंड भ्रमण करने चले जाते हैं।

उस दिन साम्राज्य परिषद् का विशेष आयोजन था। सम्राट्, बलाधिकृत दंडनायक और महानायक सभी अपने उपयुक्त स्थानों पर बैठे थे। फिर छोटी बाँसुरी और डफली लिये मगध की नर्तकियों का दल सभामंडप को नुपूर से गुंजरित करने लगा।

कलिंगराज खारवेल का दूत उपस्थित किया जाता है। सम्राट् अशोक कलिंग से जो प्रतिमा लाये थे, उसी को लौटा देने का प्रस्ताव था।

इसके बाद महादंड नायक पुष्पमित्र का पुत्र अग्निमित्र बन्दी के रूप में लाया गया। सम्राट् क्षमा करते हुए उसको मुक्त करते हैं।

उन दिनों मगध पर युद्ध के बादल मँडरा रहे थे! गान्धार से यवनों के आक्रमण की आशंका थी।

अग्निमित्र का पिता सैनिक, राज अनुग्रह का अभिलाषी था। अग्निमित्र से इरावती के कारण वह रुष्ट था। सम्राट् उसे युद्ध में भेजना चाहते थे; किन्तु वह पिता की व्यवस्था के कारण उससे मुक्त होता है।

भिक्षुणी विहार की प्राचीरों में से इरावती का उद्धार करने की उधेड़बुन में वह गगातट बैठा विचार मग्न था। सहसा कुछ शब्द सुनाई पड़ा। वह उस जीर्ण मन्दिर की ओर बढ़ा। वहाँ पहुँचने पर उसे ज्ञात हुआ कि मन्दिर का मरणासन्न पुजारी कोई गुप्त रहस्य छिपाये हुये चला जाना चाहता है, और कालिन्दी के बहुत प्रयत्न करने पर भी वह स्पष्ट नहीं करना चाहता।

विदिशा के कुलपुत्र युवक अग्निमित्र को देख कर पुजारी को उस पर विश्वास होता है। वह किसी से यह रहस्य न खोलने की शपथ ले कर अग्निमित्र को ताम्रपत्र द्वारा नन्दराज की निधि की कुञ्जी देता है।

पुजारी का अन्त होता है। अग्निमित्र कालिन्दी को आश्वासन दे कर चला जाता है।

कुक्कुटाराम के भिक्षुणी विहार में इरावती के नीरस दिन कट रहे थे। इरावती सोचने लगी थी। महाकाल का मन्दिर नहीं, उसके भी पहिले वैभवती का किनारा—जहाँ वह माता का दाहकर्म करने के बाद अकेली शरद् की सन्ध्या में बैठी थी और अग्निमित्र आया था...हाँ उसने कहा—इरा तुम व्याकुल न होना। मैं हूँ न! तुमको चिन्ता किस बात की है!—किन्तु...फिर न जाने क्या हुआ कुछ ही दिनों में उसका आना-जान बन्द हो गया। सुनने में आया कि वह घर से लड़ कर परदेश चला गया और मैं पथ की भिखारिणी बनी।

उसका यह अनमना भाव उसकी दो सखी भिक्षुणियों के सम्मुख प्रकट होता है। उनके पूछने पर वह कहती है—संयम के बन्धन के पीछे काम सुख का महाजल संघात रुका है। रुकने दो, सूखने दो, हिमशिला की तरह कठोर शीतल — मैं अचल खड़ी हूँ। सुख के आश्रय मन को ही नष्ट कर दूँगी।

अपनी दो सखियों के साथ विहार से बाहर निकल कर इरावती टहल

रही थी। सहसा अग्निमित्र का इरावती से सामना होता है। वह दक्षिण के युद्ध में नायक बन कर जाने की अपनी बात इरा से कहता है।

इरा कहती है—युद्ध चर्चा अहिंसा की पुजारिनों से करना अपराध है; इसलिये अग्निमित्र तुम यश और कीर्ति के लिये जाओ।

इरा चली जाती है। लौट कर अग्निमित्र अपने पिता महादंड़नायक के पास जाता है।

पिता की बातों से अग्निमित्र को पता लगता है कि भिक्षुणी विहार के पास चक्कर काटने और ताम्रपत्र वाली बातें भी पुष्पमित्र से छिपी नहीं हैं।

पाटलिपुत्र में हलचल मची थी। प्रान्तीय दुर्गों से सैनिकों का ताँता लग रहा था।

धर्म विजय की इच्छा रखने वाले सम्राट् बृहस्पतिमित्र, शस्त्र विजय के लिये उत्सुक हैं। महागज पर चढ़ कर नगर के पश्चिम द्वार से सेना प्रयाण का निरीक्षण कर रहे रहे थे। वीरों के खड्ग से सम्राट् की वन्दना हो रही है। बृहस्पतिमित्र इस उत्साह में भी जैसे सशंक हैं।

मगध पर चारों ओर से आक्रमण की आशंका है। एक तरफ यवनों के आक्रमण का भय, दूसरी ओर कलिंग के चक्रवर्ती खारवेल के चढ़ाई करने की आशंका, और तीसरा विद्रोहियों का स्वस्तिक दल षड्यंत्र कर रहा था।

पुष्पमित्र की व्यवस्था के अनुसार ही महासेनानायक युद्ध में गये। अग्निमित्र इस बार भी न गया।

कालिन्दी की विपन्नता का समाचार सुन कर अग्निमित्र उसके यहाँ जाता है, किन्तु वहाँ का दूसरा ही दृश्य देखकर वह समझता है कि यहाँ उसे बुलाने का षड्यंत्र था। वह कालिन्दी का सौन्दर्य देखकर उस दिन चकित हो गया। उसे विश्वास ही न होता था कि वह कालिन्दी है। कालिन्दी अग्निमित्र के सम्मुख अपना प्रणय प्रस्ताव उपस्थित करती है। अग्निमित्र को यह भी ज्ञात होता है कि कालिन्दी मन्दिर की एक परिचारिका ही नहीं मगध के विश्वविश्रुत नन्दराज के वंश की है।

अग्निमित्र कलिन्दी से कहता है—मैं स्त्रियों के प्रेम का रहस्य नहीं समझ पाया हूँ। मैं प्रणय के स्वाध्याय में असफल विद्यार्थी हूँ।

कालिन्दी ने अपने को अपमानित समझा, उसके नेत्र लाल हो गये। परन्तु रमणी के नेत्र! उन में अधिक ताप होते ही जल विन्दु दिखाई पड़े। अग्निमित्र उसे ताम्रपत्र की अधिकारिणी समझते हुए, उसकी निधि उसको देता है। उस दिन मगध साम्राज्य उलटने के षड्यंत्र में वह कालिन्दी का सहायक होगा, यह भी वचन उसने दिया।

वहाँ से लौटने पर रात में शैया पर पड़ा इरावती और कालिन्दी की तुलना करता हुआ, वह थकावट के कारण फौरन ही सो गया।

भिक्षुणी विहार के द्वार पर एक ब्रह्मचारी शंखनाद करता है। इरावती बाहर निकल आती है। वह अपने को आनन्द का धार्मिक प्रचारक बतलाता है—अनात्म के वातावरण में पला हुआ यह क्षणिक विज्ञान, उस शाश्वत सत्ता में सन्देह करता है। माँ! तुम सर्व शक्तिमयी हो। आनन्द के उल्लास की मात्रा ही जीवन है, यह भूल क्यों गईं?

इरा कहती है—परन्तु मुझे तो अपने कर्मों पर पश्चात्ताप की ज्वाला में जलने की आज्ञा मिली है। ब्रह्मचारी फिर कहता है—कौन से ऐसे कर्म हैं देवी, जिन्हें आनन्द की भावना में भस्म नहीं कर सकते? तुमसे कौन सा अपराध हुआ है?

इरा कहती है—मैं नहीं जानती; लोग कहते हैं मैं नाचती थी, आनन्द मनाती थी, यही मेरा अपराध हो सकता है।

भिक्षुणी संघ विहार के नियमों के उल्लंघन होने की आशङ्का के कारण इरावती वहाँ से चली जाती है।

अग्निमित्र एक दिन खोजता हुआ वहाँ पहुँचता है, लेकिन वह मिलती नहीं, फिर वह अस्त-व्यस्त होकर कालिन्दी के यहाँ पहुँचता है।

कालिन्दी उससे पूछती है—इरावती का पता नहीं लगा न?

अग्निमित्र को आश्चर्य होता है कि कालिन्दी को इसका कैसे पता लगा ?

कालिन्दी फिर अग्निमित्र से प्रणय याचना करती है; किन्तु वह दृढ़ रहता है। उसी समय इरावती को खोजते हुए मन्दिर मे कुछ सैनिकों का प्रवेश होता है। अग्निमित्र द्वन्द्व करता है, वह आश्चर्य-चकित होकर इरावती की ओर देखता है।

इरावती कहती है—नहीं मेरे लिए रक्तपात की आवश्यकता नहीं। अग्निमित्र विमूढ-सा सोचने लगा। उसके घावों से रक्त बहने लगा, वह मूर्छित हो गया।

सैनिक इरावती को पकड़ कर ले गये।

कालिन्दी अग्निमित्र की सेवा में व्यस्त होती है।

दो वर्षों के बाद विदेश से व्यवसाय करके सेठ धनदत्त घर लौट रहा था। कुसुमपुर में कोलाहल था। धनदत्त बड़ी दुश्चिन्ता में पड़ा। नगर सामने दिखाई पड़ रहा है। सन्ध्या हो चली है। उसके पास रत्नों का ढेर है। वह अपने नौकर चन्दन पर चिढ़ रहा था। उसी समय एक व्यक्ति से उसे यह ज्ञात होता है कि उसकी पत्नी मणिमाला नगर में उपद्रव के कारण बाहर चली गई है।

रात घनी होती जा रही थी। अब पथिकों का आना-जाना बन्द हो गया था। उसी समय दो सैनिकों के साथ वाहकों ने शिविका को चैत्य वृक्ष की छाया में रख दिया। वे विश्राम करने लगे। धनदत्त भी वहीं था।

कुछ समय बाद ब्रह्मचारी आता है। शिविका में पड़े हुए घायल रोगी को बूटी द्वारा लाभ पहुँचाता है। स्वस्थ होने पर रोगी आश्चर्य से ब्रह्मचारी को देखते हुए कहता है—गुरुदेव !

ब्रह्मचारी कहता है—अग्निमित्र !

कुछ समय बाद एक बैलगाड़ी और साथ में शिविका लिये हुए कुछ

लोग फिर उसी वृक्ष के नीचे आये, जैसे रात वहीं बिताने का उन लोगों ने निश्चय कर लिया था।

शिविका में से एक स्त्री निकल कर आलोक के सामने आई।

धनदत्त ने उसे पहिचाना, वह उसकी पत्नी मणिमाला ही थी।

धनदत्त उसे अविश्वसनीय समझ कर मन में घृणा कर रहा था।

घटनाक्रम के अनुसार पुष्पमित्र भी वहीं पहुँचता है। वह रुष्ट होकर अग्निमित्र से बातें करता है।

पुष्पमित्र की आज्ञाधुसार धनदत्त और उसकी पत्नी सब सम्पत्ति के साथ सैनिकों द्वारा अपने घर पर पहुँचाये गये।

अग्निमित्र अपने पिता के साथ धीरे-धीरे शिविर की ओर अग्रसर हुआ।

इरावती अब मगध देश की विशाल रंगशाला में आप हँसती है।

सम्राट् एक दिन उसके सम्मुख बैठ कर प्रणय याचना करता है। वह कहता है—तुम्हारा नृत्य देख कर मैं मुग्ध हो गया हूँ, मेरे हृदय की ज्वाला तुम्हीं बुझा सकती हो।

बृहस्पतिमित्र उसका आलिंगन करना चाहता है। इरा मूर्छित हो जाती है। ठीक उसी समय न जाने कैसे कालिन्दी वहाँ आकर उसकी सहायता करती है। अन्त में जब उसे यह प्रकट होता है कि इरा के ऊपर अत्याचार करनेवाला स्वयं सम्राट् है तो वह भयभीत हो उठती है। सम्राट् के यह पूछने पर कि तुम यहाँ कैसे आई, वह अपने इस अपराध के लिए क्षमा माँगती है।

धनदत्त के मन में मणिमाला के प्रति सन्देह था; किन्तु एक दिन जब चन्दन द्वारा विदेश में धनदत्त का राजगणिका के यहाँ जाने का रहस्य मणिमाला को प्रकट होता है तो वही सन्देह अब समझौता बन कर उपस्थित होता है।

मणिमाला स्वतंत्र विचार की थी। उसे बन्धन नहीं चाहिये; जो कुछ हो गया, हो गया। उसके लिये इतनी तनातनी क्यों ? चरित्रों से मनुष्य नहीं बनते, मनुष्य चरित्रों का निर्माण करते हैं, यही उसकी धारणा थी।

घटनाक्रम के अनुसार दो रमणियाँ धनदत्त के यहाँ कुछ रत्न और मुक्ता खरीदने के लिये आई। उसके इस अपूर्व संग्रह को देख कर एक कहती है—सचमुच मुक्ताओं का ऐसा सग्रह दुर्लभ है, श्रेष्ठि! कुसुमपुर को तुम्हारे ऊपर गर्व होना चाहिये।

मणिमाला भी वहीं आकर खड़ी हो जाती हैं, ब्रह्मचारी भी वहीं उपस्थित होता है। ब्रह्मचारी एक रमणी को देख कर कहता है—अरे तुम बौद्ध विहार से निकल कर यहाँ चली आई हो! कैसे? किन्तु ठीक है, मिथ्या संसार से मुक्त होकर तुम वास्तविक जगत् में आ गई हो देवी।

कल्याणी ने इरावती के लिये कुछ रत्न और मुक्ताओं को खरीद कर मूल्य दे दिया।

मनमाना दाम मिलने पर वणिक धनदत्त प्रसन्न हो उठा। उसने उस दिन अपने ही यहाँ उन्हे भोजन का निमंत्रण दिया। उसी समय एक और ग्राहक धनदत्त के यहाँ आता है।

धनदत्त को ज्ञात होता है कि यह युवक कलिंग का राजपुत्र खारवेल है, और वह भगवान् अग्रजिन की प्रतिमा के लिए उत्तम वज्र मणि लेने आया है। धनदत्त को कलिंगराज से यथेष्ट स्वर्ण मुद्रायें प्राप्त हो गईं। उसने उन्हें भी उस रात्रि के उत्सव में सम्मिलित होने का अनुरोध किया। आकाश में काली घटाएँ उठी थीं। मार्ग की कठिनाई के कारण खारवेल ने भी धनदत्त का निमंत्रण स्वीकार कर लिया। उसी समय अग्निमित्र भी वहाँ पहुँचता है। उसे देख कर धनदत्त कहता है—इस वर्षा में भी निमंत्रण की रक्षा करने आने के लिए मैं आप का कृतज्ञ हूँ, महानायक अग्निमित्र।

एक बड़े से चौकोर मंडप में जिसके सुन्दर स्तम्भ मंजरियों और कुसुमों की मालाओं से सजे थे, कोमल काश्मीरी कम्बलों पर बड़े-बड़े तकियों के सहारे मणिमाला, कालिन्दी और इरावती बैठी थीं। एक ब्रह्मचारी भी निर्लिप्त जैसा बैठा, नीचे की अमराई का अन्धकार देख रहा था। सामने वीणा

और मृदंग के आगे गायक दल का समारोह था, वीणा गुञ्जरित हुई। मृदंग पर थाप पड़ी। पास के ही कक्ष में भोजन परोसा जा चुका था।

सब लोगों के भोजन कर लेने के बाद मणिमाला के अनुरोध पर युवक कलिंगराज वीणा बजाने लगता है और इराव अपना नृ ौशल दिखलाती है।

अग्निमित्र एक बार जैसे झलमलाया, किन्तु मन ही मन कुछ सोचकर शान्त बैठा रहा।

खारवेल ने ऐसा सुन्दर नृत्य कभी देखा न था। उसने वीणा को विराम देते हुए, साधुवाद से उस नर्तकी का सत्कार किया, किन्तु इरावती अब ठीक अग्निमित्र के सामने बैठ गई थी।

कलिंगराज प्रसन्न होकर इरावती को अपनी एकावल ी देने लगता है, किन्तु कालिन्दी के यह कहने पर कि अतिथि मनोरंजन करने में पुरस्कार का प्रलोभन नहीं रहता, वह अस्वीकार करती है।

अग्निमित्र खारवेल से प्रसन्न होकर कहता है—महाराज मैं वचन देता हूँ, महानायक अग्निमित्र के जीवित रहते आप निश्चिन्त रहें।

धनदत्त के गृह के बाहर बहुत से मनुष्य काले वस्त्रों में अपने को ढँक कर सशस्त्र घूम रहे थे। क्षण भर में ख ड्ग चमकने लगे और धनदत्त अग्नि-मित्र की इस रक्षा की व्यवस्था को देख कर घबरा गया था। अभी बूँदें पड़ रही थीं। आकाश निविड़ कृष्णवर्ण का हो रहा था। कालिन्दी, इरावती और केयूरक के साथ खारवेल भी वहीं चले आ रहे थे।

इरावती को प्रसाद जी छोटा उपन्यास ही बनाना चाहते थे; यह घटना क्रम को देखते हुए भलीभाँति ज्ञात होता है। उन्होंने जितना लिखा, उतने में ही अधिकांश चरित्र 'क्लाइमैक्स' पर पहुँच जाते हैं। धनदत्त के यहाँ सभी प्रमुख पात्र एकत्रित होते हैं। इरावती के नृत्य के बाद कथानक इतनी तीव्र गति से आगे बढ़ता है कि तीन-चार परिच्छेदों से आगे बढ़ने की सम्भावना नहीं दिखलाई पड़ती।

अग्निमित्र का चरित्र ठोस होने के कारण इरावती को अपना बना लेने की सम्भावना स्पष्ट है।

मेरे अनुमान के अनुसार आगे चार परिच्छेदों का क्रम इस प्रकार हो सकता था।

(१) बौद्ध स्थविर की छलनीति। मगध के भाग्य का निर्णय।

(२) कालिन्दी और खारवेल।

(३) अग्निमित्र और इरावती।

(४) धनदत्त और मणिमाला।

कालिन्दी और इरावती के मानसिक द्वन्द्व, त्याग और कष्टों को देखते हुए यह भी अनुमान किया जा सकता है कि उनका अन्त आशाप्रद और सुखद होता।

सम्राट् बृहस्पतिमित्र का अन्त कैसा होगा, उस सम्बन्ध में मैंने इतिहास की सामग्री नहीं देखी है, फिर भी सम्राट् की कायरता और विलासिता को देखते हुए कहा जा सकता है कि उसका विध्वंस स्वाभाविक है। वृद्ध महासेना नायक का अन्त होता है। अग्निमित्र, कालिन्दी और स्वस्तिक दल, विद्रोह की ज्वाला प्रज्वलित कर रहे हैं। उधर यवनों का आक्रमण हो रहा है। इन सब घटनाओं को देखते हुए सम्राट् के अन्त का केवल अनुमान किया जा सकता है।

———

प्रसाद की कहानियाँ

आधुनिक कहानी-लेखकों में ऐतिहासिक दृष्टि से भी प्रसाद जी का प्रथम स्थान है। मधुकरी का संग्रह करते समय सभी लेखकों का रचना-क्रम मैंने बनाया था। प्रसाद जी की १६११ ई० में पहली कहानी 'ग्राम' इन्दु में प्रकाशित हुई थी। इसी लिए रचना-क्रम के अनुसार, प्रसाद जी की कहानियाँ सब से पहले दी गई थीं।

प्रसाद जी ने किसी उद्देश्य अथवा प्रोपोगण्डा के लिए कहानियाँ नहीं लिखीं। उनके मन में भावनाएँ उठीं और उन्होंने कहानियाँ लिखीं; उनकी अधिकांश कहानियाँ भावात्मक हैं। भावात्मक कहानियों को कहानी-कला की कसौटी पर कसना कठिन है। अपनी तूलिका की प्रस्तावना में मैंने लिखा था—'कुछ लोग सरल बालकों की तरह कहानी-लेखक से जानना चाहते हैं। हाँ तो उस राजा ने तीन रानियों से क्यों ब्याह किया? उसकी जीवनचर्या कैसी थी? क्योंकर निभती थी? वे एक-एक पल का लेखा माँगने लगते हैं।'

प्रसाद जी ने स्वयं अपनी नीरा कहानी में एक स्थान पर लिखा है—'जैसे एक साधारण आलोचक प्रत्येक लेखक से अपने मन की कहानी कहलाया चाहता है और हठ करता है कि नहीं, यहाँ तो ऐसा न होना चाहिये था।'

भावात्मक कहानियाँ कोई सीख कर नहीं लिख सकता, उसके लिए कोई नियम अथवा सिद्धान्त आवश्यक नहीं है। एक बार किसी महिला ने श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर से पूछा था—आपने अमुक कहानी को किस मतलब से लिखा। आपका उद्देश्य क्या था?

रवीन्द्र बाबू ने उत्तर दिया—'कहानी लिखने का उद्देश्य कहानी लिखना है। मैं कहानी इस लिए लिखता हूँ कि कहानी लिखने की मेरी इच्छा होती है। किसी मतलब से कहानी नहीं लिखी जाती......साहित्य विज्ञान नहीं और न वह धर्मशास्त्र ही है। यदि उसमें कुछ निर्धारित नियमों के अनुसार ही पात्रों के चरित्र अंकित किये जायँ तो वह चित्र प्राणहीन होगा। सम्भव है, वह नेत्ररंजक हो, पर इस मे हम जीवित संसार का आदर्श न देख सकेंगे।'

अतएव भावात्मक कहानी-लेखक किसी की प्रशंसा अथवा निन्दा की परवा नहीं करता। वह अपनी ही धुन में झूमता चला जाता है। कवि प्रसाद ऐसे ही कहानी-लेखक थे।

प्रसाद जी ने अपने जीवन में ६६ कहानियाँ लिखीं। उनके पाँच कहानी संग्रह—छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी और इन्द्रजाल—प्रकाशित हो चुके हैं, उनकी पहली कहानी 'ग्राम' और अन्तिम 'सालवती' है।

प्रसाद जी की पहली कहानी ग्राम में ही हम भलीभाँति देख पाते हैं कि क़र्ज का दुष्परिणाम उनके मस्तिष्क में मँडरा रहा था।

स्त्री कहने लगी—'हमारे पति इस प्रान्त के गण्य भूस्वामी थे और वंश भी हम लोगों का बहुत उच्च था। जिस गाँव का अभी आपने नाम लिया है, वही हमारे पति की प्रधान ज़मीदारी थी। कार्यवश एक कुन्दन-लाल नामक महाराज से कुछ ऋण लिया गया। कुछ भी विचार न करने से उनका बहुत रुपया बढ़ गया, और जब ऐसी अवस्था पहुँची तो अनेक उपाय करके हमारे पति धन जुटा कर उनके पास ले गए, तब उस धूर्त ने कहा—'क्या हर्ज है बाबू साहब! आप आठ रोज़ में आना, हम रुपया ले लेंगे और जो घाटा होगा, उसे छोड़ देंगे। आपका इलाका फिर जायगा, इस समय रेहननामा भी नहीं मिल रहा है।' उसका विश्वास करके हमारे पति फिर बैठे रहे, और उसने कुछ भी न पूछा। उनकी उदारता के कारण

वह सञ्चित धन भी थोड़ा हो गया, और उधर उसने दावा करके इलाका जो कि वह ले लेना चाहता था, बहुत थोड़े रुपये में नीलाम करा लिया। फिर हमारे पति के हृदय में उस इलाके के इस भाँति निकल जाने के कारण बहुत चोट पहुँची। इसीसे उनकी मृत्यु हो गई। इस दशा के होने के उपरान्त हम लोग इस दूसरे गाँव में आकर रहने लगीं।

'ग्राम' में उनकी पहली कहानी की एक पात्री केवल एक छाया की तरह प्रकट होती है। उसका विकास नहीं होता।

बालिका की अवस्था १५ वर्ष की है। आलोक से उसका अंग अंधकार घन में विद्युतल्लेखा की तरह चमक रहा था। यद्यपि दरिद्रता ने उसे मलिन कर रखा है, पर ईश्वरीय सुषमा उसके कोमल अंग पर अपना निवास किये हुए है।

अपनी अन्तिम कहानी में भिन्न-भिन्न स्त्री चरित्रों के चित्रण करने के बाद प्रसाद जी ने 'सालवती' का बड़ा उज्वल चित्र प्रस्तुत किया है।

आज जैसे उसने यह अनुभव किया कि नारी का अभिमान अकिंचन है। वह मुग्धा विलासिनी, अभी-अभी संसार के सामने अपने अस्तित्व को मिथ्या माया, सारहीन समझ कर आई थी। वह अपने सुवासित अलकों को बिखेर कर उन्हीं में अपना मुँह छिपाये पड़ी थी।

प्रसाद जी ने स्त्री-चरित्रों में प्रतिहिंसा की ज्वाला का अनोखा चित्रण किया है। उनकी आरम्भिक कहानी 'चंदा' में इसका बीजारोपण होता है, नारी के कोमल हृदय में कठोरता का प्रवेश होता है।

चन्दा ने कहा—'हाँ लो मैं मरती हूँ। इसी छूरे से तूने हमारे सामने हीरा को मारा था. यह वही छुरा है, यह तुझे दुःख से निश्चय छुड़ायेगा' —इतना कह कर चन्दा ने रामू की बगल में छुरा उतार दिया, वह छटपटाया; इतने ही में शेर को मौका मिला, वह रामू पर टूट पड़ा और उसकी इति कर आप भी वहीं गिर पड़ा।

चंदा ने अपना छुरा निकाल लिया और उसको चाँदनी में रँगा देखने लगी।

फिर खिलखिला कर हँसी और कहा—'दरद दिल काही सुनाऊँ यारे।' फिर हँस कर कहा—'हीरा तुम देखते होगे, पर अब तो यह छुरा ही दिल की दाह सुनेगा।' इतना कहकर अपनी छाती में छुरा भोंक लिया।

प्रतिहिंसा का यही परिष्कृत रूप हम आगे चलकर 'आकाश-दीप' में चम्पा के चरित्र में देखते हैं।

'विश्वास ? कदापि नहीं बुद्धगुप्त ! जब मैं अपने हृदय पर विश्वास नहीं कर सकी, उसी ने धोखा दिया, तब कैसे कहूँ। मैं तुमसे घृणा करती हूँ। फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूँ, अंधेर है जल-दस्यु ! मैं तुम्हे प्यार करती हूँ।' चम्पा रो पड़ी।

प्रसाद जी की समस्त कहानियों में मंगला का चरित्र बड़ा विलक्षण हुआ है।

मंगला का साथी शराब पी कर बेहोश पड़ा है। वह मुरली से आकर कहती है—'अच्छा तो सुनो, मैं इस पशु से अब ऊब गई हूँ। मुझे यहाँ से ले चलो।'

'स्त्री-जीवन की भूख कब जग जाती है, इसको कोई नहीं जानता; मान लेने पर तो उसको बहाली देना असंभव है। उसी क्षण को पकड़ना पुरुषार्थ है।'

'मुरली निश्चय नहीं कर पाता।'

'तुम डरते हो न'—यह कह कर मंगला ने कमर से छुरा निकाल लिया—'अभी झगड़ा छुड़ाए देती हूँ।' वह झोपड़ी की ओर चली।

देखिए, केवल दो पंक्तियों में ही इस कथा का तत्त्व छिपा है—

'देवता छाया बना देते हैं। मनुष्य उसमें रहता है, और मुझ-सी राक्षसी उसमें आश्रय पा कर भी उसे उजाड़ कर ही फेंकती है!' (चित्र वाले पत्थर)

साद जी का द्वितीय कहानी-संग्रह 'प्रतिध्वनि' नाम से निकला था। उनकी भावात्मक कहानियों का आरंभ इसी संग्रह से होता है।

'अकस्मात् आरती बद हुई। सरला ने जाने के लिए आशा का उत्सर्ग करके एक बार देव-प्रतिमा की ओर देखा। देखा, उसके फूल भगवान् के अंग पर सुशोभित हैं। वह ठिठक गई। पुजारी ने सहसा घूम कर देखा, और कहा—'अरे तुम! अभी यहीं हो? तुम्हे प्रसाद नहीं मिला? लो। जान में या अनजान में, पुजारी ने भगवान् की एकावली सरला के नत गले में डाल दी। प्रतिमा प्रसन्न होकर हँस पड़ी।'

'प्रतिध्वनि' कहानी संग्रह की इस प्रथम कहानी का शीर्षक है—'प्रसाद'। प्रतिमा प्रसन्न होकर हँस पड़ी—यहीं से हम भावात्मक कहानी का सूत्र लेकर आगे चलते हैं।

प्रसादजी भावात्मक कहानियों का जो निर्माण करते हैं, उसका अंकुर इसी संग्रह से आरम्भ होता है।

उदाहरण के लिए कुछ अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है—

'आप लोग अमीर आदमी हैं। अपने कोमल श्रवणेन्द्रियों से पत्थर का रोना, लहरों का संगीत, पवन की हँसी इत्यादि कितनी ही सूक्ष्म बातें सुन लेते हैं, और उसकी पुकार में दत्तचित्त हो जाते हैं। करुणा से पुलकित होते हैं। किन्तु क्या कभी दुखी हृदय के नीरव क्रन्दन को भी अन्तरात्मा की श्रवणेन्द्रिय को सुनने देते हैं, जो करुणा का काल्पनिक नहीं, किन्तु वास्तविक रूप है।' (पत्थर की पुकार)।

'चन्द्र-किरणों और लहरियों को बातचीत करने का एक आधार मिला।' (उस पार का योगी)।

'हाँ, और यह भी कह देना कि तुम सरीखी अविश्वासिनी स्त्रियों से मैं और भी दूर भागना चाहता हूँ, जो प्रलय के समुद्र की प्रचंड आँधी में एक जर्जर पोत से भी दुर्बल और उसे डुबा देने वाली लहर से भी भयानक है।' (खंडहर की लिपी)।

'कलावती फिर लौटी और एक चीनी की पुतली लेकर उसे पढ़ाने बैठी। देखो, मैं तुम्हें दो चार बातें सिखाती हूँ। उन्हें अच्छी तरह रट लेना। लज्जा कभी न करना। यह पुरुषों की चालाकी है, जो उन्होंने इसे स्त्रियों के हिस्से में डाल दिया। यह दूसरे शब्द में एक प्रकार का भ्रम है, इसलिए तुम भी ऐसा रूप धारण करना कि पुरुष, जो बाहर से अनुकंपा करते हुए, तुम से भीतर-भीतर घृणा करते हैं, वे भी तुम से भयभीत रहें, तुम्हारे पास आने का साहस न करें। और कृतज्ञ होना दासत्व है। चतुरों ने अपना कार्य साधन करने का अस्त्र इसे बनाया है। इसलिए इसकी ऐसी प्रशंसा की है कि लोग इसकी ओर आकर्षित हो जाते हैं, किंतु यह दासत्व शरीर का न ह अंतरात्मा का है·········प्यारी पुतली समझी न !' (कलावती की शिक्षा)

प्रतिध्वनि की पंद्रहवीं कहानी 'प्रलय' को मैं प्रसाद जी की प्रथम रहस्यवादी कहानी मानता हूँ।

युवक मणि-पीठ पर सुखासीन होकर आसव पान कर रहा है। युवती त्रस्त नेत्रों से इस भीषण व्यापार को देखते हुए भी नहीं देख रही है। जवाकुसुम सदृश और जगत् का तत्काल तरल पारद समान रंग बदलना, भयानक होने पर भी युवक को स्पृहणीय था। वह सस्मित बोला—'प्रिये कैसा' दृश्य है।'

'इसी का ध्यान करके कुछ लोगों ने आध्यात्मिकता का प्रचार किया था।' युवती ने कहा।

'बड़ी बुद्धिमती थी !' हँस कर युवती ने कहा। वह हँसी ग्रहगण की टक्कर के शब्द से भी कुछ ऊँची थी।

'क्यों ?'

'मरण के कठोर सत्य से बचने का बहाना या आड़।'

'प्रिये ऐसा न कहो।'

'मोह के आकस्मिक अवलंब ऐसे ही होते हैं। युवक ने पात्र भरते हुए कहा।'

'इसे मैं नहीं मानूँगी' दृढ़ होकर युवती बोली।

सामने की जल-राशि आलोड़ित होने लगी। असंख्य जल-स्तंभ शून्य मापने को ऊँचे चढ़ने लगे। कण-जाल से कुहासा फैला। भयानक ताप पर शीतलता हाथ फेरने लगी। युवती ने और भी साहस से कहा—'क्या आध्यात्मिकता मोह है।'

'चैतनिक पदार्थों का ज्वार-भाँटा है। परमाणुओं से ग्रथित प्राकृत नियंत्रण शैली का एक विन्दु अपना अस्तित्व बचाये रखने की आशा में मनोहर कल्पना कर लेता है। विदेह होकर विश्वात्मभाव की प्रत्याशा, ही क्षुद्र अवयव में अंतर्निहित अंतःकरण यंत्र का चमत्कार-साहस है, जो स्वयं नश्वर उपादनों को साधन बना कर अविनाशी होने का स्वप्न देखता है। देखो इसी सारे जगत् की लय की लीला में तुम्हें इतना मोह हो गया है!

'प्रलय' की श्रेणी की प्रसाद जी की तीन कहानियाँ और हैं—ज्योतिष्मती, कला और रमला। ये चारों कहानियाँ अन्य कहानियों से भिन्न हैं और किसी अज्ञात रहस्य की डोर में बँधी हुई मालूम पड़ती है।

ज्योतिष्मती—साहसिक अपनी सफलता पर प्रसन्न होकर आगे बढ़ना चाहता था कि बनलता ने कहा—ठहरो, ठहरो, जिसने चन्द्रशालिनी ज्योतिष्मती रजनी के चारो पहर कभी बिना पलक लगे पिय की निश्चल चिंता में न बिताये हों, उसे ज्योतिष्मती न छूना चाहिये।

बनलता की इन बातों को बिना सुने हुए वह बलिष्ठ युवक अपनी तलवार की मूठ दृढ़ता से पकड़ कर बनस्पति की ओर अग्रसर हुआ। साहसिक की लम्बी छाया ने ज्योतिष्मती पर पड़ती चंद्रिका को ढँक लिया। वह एक दीर्घ निश्वास फेंक कर जैसे सो गई।

बनलता झंझावात से मग्न होते हुए वृक्ष की बनलता के समान वसुध का आलिंगन करने लगी और साहसी युवक के ऊपर कालिमा की लहरें टकराने लगीं।

कला—नगर में आज बड़ी धूमधाम है। जिसे देखो रंग-शाला की ओर दौड़ा जा रहा है......कंगाल रसदेव भी......

कवि रसदेव ने अपने साथी से हँसते हुए कहा—इसकी अंतिम और मुख्य पदावली यह भूल गई। उसका अर्थ है—मेरी भूल ही तेरा रहस्य है। इसलिये कितनी ही कल्पनाओं में तुझे खोजता हूँ, हे मेरे चिर सुन्दर।

रमला—प्रशान्त रमला में एक चमकीला फूल हिलने लगा, साजन ने आँख उठा कर देखा—पहाड़ी की चोटी पर एक तारिका रमला के उदास भाल पर सौभाग्य चिह्न-सी चमक उठी थी। देखते देखते रमला का वक्ष नक्षत्रों के हार से सुशोभित हो उठा।

साजन ने उल्लास से पुकार—'रानी।'

प्रसाद के द्वितीय कहानी-संग्रह 'प्रतिध्वनि' में केवल तीन कहानियाँ—गूदड़साईं, कलावती की शिक्षा और प्रलय—को छोड़ कर शेष सभी कहानियाँ साधारण कोटि की हैं। उनमें कहानी के सभी आवश्यक गुण नहीं दिखलाई पड़ते। रहस्यवादी कहानियों का आरंभ इन कहानियों से होता है।

'इस चीथड़े को लेकर भागते हैं भगवान् और मैं उनसे लड़कर छीन लेता हूँ; रखता हूँ फिर उन्हीं से छिनवाने के लिए, उनके मनोविनोद के लिए, सोने का खिलौना तो उचक्के भी छीनते हैं; पर चीथड़ों पर भगवान् ही दया करते हैं।' (गूदड़साईं)

'लहरें क्यों उठती और फिर विलीन होती हैं? बुद्बुद और जल-राशि का क्या सम्बन्ध है? मानव-जीवन बुद्बुद है कि तरंग? बुद्बुद है तो विलीन हो कर फिर क्यों प्रकट होता है? मलीन अंश फेन कुछ जल-विन्दु से मिल कर बुद्बुद का अस्तित्व क्यों बना देता है। क्या वासना और शरीर का भी यही संबंध है? वासना की शक्ति कहाँ-कहाँ किस रूप में अपनी इच्छा चरितार्थ करती हुई जीवन को अमृत गरल का संगम बनाती हुई, अनंतकाल तक दौड़ लगावेगी? कभी अवसान होगा, कभी अनन्त

जलराशि में विलीन हो कर अपनी अखण्ड समाधि लेगी।' (अघोरी का मोह)

'चन्द किरणों और लहरियों को बातचीत करने का एक आधार मिला।' (उस पार का योगी)

'आकाशदीप' प्रसाद जी का तीसरा कहानी-संग्रह है। इस संग्रह में १६ कहानियाँ हैं। कला, ज्योतिष्मती और रसला इन तीन रहस्यवादी कहानियों को छोड़ कर अधिकांश कहानियाँ भावात्मक हैं।

स्वर्ग के खण्डहर में—प्रसाद ने एक ऐसे स्वर्ग की कल्पना की है, जो पैसे वालों का स्वप्न संसार है। जहाँ के बाह्य संसार से अलग पड़े मनुष्य अपनी वासनाओं तथा ऐश्वर्य बिलास को पूर्ण करने के लिए सब प्रकार का प्रयत्न करते हैं। शेख उस स्वर्ग का जन्मदाता है।

इस कहानी में सात पात्र-पात्रियों का चरित्र-विकास हुआ है। गुल, मीना और बहार के क्रीड़ा और अंतर्द्वन्द्व के साथ कहानी चलती है। शेख, देवपाल लज्जा और विक्रम कहानी के मूल रूप रेखा में छिपे हैं।

यह कहानी घटना प्रधान है। ऐतिहासिक सूत्र मे बाँध कर प्रसाद ने इसका प्लाट बड़ा सुंदर बनाया है। गुल देवपाल का पुत्र है, जो घटनाक्रम के अनुसार इस स्वर्ग में आता है और मीना विक्रम की पुत्री है। लज्जा देवपाल की प्रणयिनी है।

सब तरह का सुख और विलास की वस्तु प्राप्त होते हुए भी कोई इसमें संतुष्ट नहीं। गुल मन ही मन कहता है—'मैं क्या करूँ? सब मुझसे रूठ जाते हैं। कहीं सहृदयता नहीं। मुझसे सब अपने मन की कराना चाहते हैं। जैसे मेरे मन नहीं है। हृदय नहीं है! प्रेम आकर्षण! यह स्वर्गीय प्रेम में भी जलन! बहार तिनक कर चली गई; मीना? वह पहले ही हट रही थी; तो फिर क्या जलन ही स्वर्ग है?'...

......बहार ने एक दिन गुल से कहा—'चलो द्राक्षा-मण्डप में संगीत

का आनन्द लिया जाय।' दोनों स्वर्गीय मदिरा में झूम रहे थे। मीना वहाँ अकेली बैठी उदासी में गा रही थी।

'वही स्वर्ग तो नरक है, जहाँ प्रिय जन से विच्छेद है। वही रात प्रलय की है, जिसकी कालिमा में विरह का संयोग है। वह यौवन निष्फल है, जिसका हृदयवान् उपासक नहीं। वह मदिरा हलाहल है, पाप है, जो उन मधुर अधरों को उच्छिष्ट नहीं। वह प्रणय विषबुझी छुरी है, जिसमें कपट है। इस लिए है जीवन ? तू स्वप्न न देख, विस्मृति की निद्रा में सो जा ! सुषुप्ति यदि आनन्द नहीं, तो दुःखों का अभाव तो है। इस जागरण से—इस आकांक्षा और अभाव के कारण से, वह निर्द्वन्द्व सोना कहीं अच्छा है, मेरे जीवन !'

बहार का साहस न हुआ कि वह उस मंडप में पैर धरे; पर गुल, वह तो जैसे मूक था। अपराध और मनोवेदना के निर्जन कानन में भटक रहा था, यद्यपि चरण निश्चल थे। इतने में हलचल मच गई, चारो ओर दौड़ धूप होने लगी। मालूम हुआ, स्वर्ग पर तातार के खान की चढ़ाई हुई है।

स्वर्ग का ध्वंस हुआ।

सेनापति विक्रम को उस प्रान्त का शासन मिला; पर मीना उन्हीं स्वर्ग के खडहरो में उन्मुक्त घूमा करती। जब सेनापति बहुत स्मरण दिलाता, तो वह कह देती —'मैं एक भटकी हुई बुलबुल हूँ, मुझे किसी टूटी डालपर अंधकार बिता लेने दो ! इस रजनी-विश्राम का मूल्य अंतिम तान सुना-कर जाऊँगी।'

मालूम नहीं, उसकी अंतिम तान किसी ने सुनी या नहीं।

इस कहानी के सम्बन्ध में महाराजकुमार रघुवीरसिंह के इस कथन से मैं पूर्ण सहमत हूँ कि 'यह वह कहानी है, जिसको अपने साहित्य कोष में देख कर प्रत्येक हिन्दी भाषाभाषी को गर्व होना चाहिए।'

आकाशदीप—प्रसाद जी का यह कहानी पूर्ण रूप से भावनात्मक है। इसमें प्लाट थोड़ा है और चरित्र-चित्रण अधिक। संक्षेप में—चम्पा

एक क्षत्रिय बालिका है। उसके पिता वणिक् मणिभद्र के यहाँ प्रहरी का काम करते थे। जलदस्यु बुद्धगुप्त ने जब आक्रमण किया, तब चम्पा के पिता ने ही सात दस्युओं को मार कर जल-समाधि ली। वणिक् मणिभद्र की पाप-वासना ने चम्पा को बन्दिनी बनाया।

बुद्धगुप्त क्षत्रिय था। लेकिन दुर्भाग्य से जलदस्यु बन कर जीवन बिता रहा था। बन्दी अवस्था में वन्दिनी चम्पा से उसकी भेंट हुई। दोनों कौशल से स्वतन्त्र हो गये।

चम्पा के संसर्ग में आने पर बुद्धगुप्त का पत्थर-सा हृदय एक दिन सहसा चन्द्रकान्त मणि-सा द्रवित हुआ। माया, ममता और स्नेह-सेवा की देवी चम्पा भी जलदस्यु को प्यार करने लगती है। साथ ही वह बुद्धगुप्त से घृणा भी करती है; क्योंकि वह समझती है कि वही उसके वीर पिता की मृत्यु का निष्ठुर कारण है।

बुद्धगुप्त कहता है—मैं तुम्हारे पिता का घातक नहीं हूँ चम्पा! वह एक दस्यु के शस्त्र से मरे।

कम्पित स्वर में चम्पा बोली—यदि मैं इसका विश्वास कर सकती! बुद्धगुप्त! वह दिन कितना सुंदर होता, वह क्षण कितना स्पृहणीय!

बुद्धगुप्त अनुभव करता है कि वह चम्पा के पास रह कर अपने हृदय पर अधिकार न रख सकेगा, इस लिए वह भारतवर्ष लौट जाता है।

बिसाती—शीरीं, ज़लेखा की सखी है। अपना अवगुंठन उलटते हुए ज़लेखा ने कहा—'शीरीं! वह तुम्हारे हाथों पर आकर बैठ जाने वाला बुलबुल आजकल नहीं दिखलाई देता?'

आह खींच कर शीरीं ने कहा—'कड़े शीत में अपने दल के साथ मैदान की ओर निकल गया। वसंत तो आ गया; पर वह नहीं लौट आया।'

शीरीं कल्पना करने लगी—हिन्दुस्तान के समृद्धिशाली नगर के एक गली में एक युवक पीठ पर गट्ठर लादे घूम रहा है। परिश्रम और अनाहार से उसका मुख विवर्ण है।

उसकी इच्छा हुई कि हिन्दुस्तान के प्रत्येक गृहस्थ के पास इतना धन रख दे कि वे अनावश्यक होने पर भी उस युवक की सब वस्तुओं का मूल्य देकर उसका बोझ उतार दे। महीनों हो गये।

शीरीं का ब्याह एक धनी सरदार से हो गया।

एक दिन दुर्बल और लंबा युवक पीठ पर गट्ठर लादे सामने आकर बैठ गया। शीरीं ने उसे देखा, पर वह किसी की ओर देखता नहीं। अपना सामान खोलकर सजाने लगा।

सरदार अपनी प्रेयसी को उपहार देने के लिए कुछ सामान छाँटने लगा। उसने दाम पूछा।

युवक ने कहा—मैं उपहार देता हूँ, बेचता नहीं।

सरदार ने तीक्ष्ण स्वर में कहा—तब मुझे न चाहिए, ले जाओ, उठाओ।

वह कहता है—मैं थका हुआ आ रहा हूँ। थोड़ा अवसर दीजिए। हाथ-मुँह धो लूँ। कह कर युवक चला जाता है, फिर लौट कर नहीं आता।

शीरीं ने बोझ तो उतार लिया, पर दाम नहीं दिया।

छोटी कहानियों में इसे मैं प्रसाद की सर्वोत्तम कृति समझता हूँ।

'आँधी' प्रसाद जी का चौथा कहानी-संग्रह है। इसमें ११ कहानियाँ संगृहीत हैं। इन कहानियों में विजया, अमिट-स्मृति, ग्राम-गीत और व्रत-भंग के अतिरिक्त सभी कहानियाँ जोरदार हैं।

विजया में केवल इन पक्तियों से ही कहानी बनती है—समाज से डरो मत। अत्याचारी समाज पाप कहकर कानों पर हाथ रखकर चिल्लाता है, वह पाप का शब्द दूसरों को सुनाई पड़ता है, पर वह स्वयं नहीं सुनता।

ग्राम-गीत में नंदन भाट की लड़की रोहिणी गाँव के ज़मींदार जीवनसिंह के प्रेम में पड़ कर पगली हो जाती है। उसी भावावेश में वह स्वयं गीत बनाती हुई गाती फिरती है।

'बरजोरी बसे हो नयनवाँ में।
ढीट बिसारे बिसरत नाहीं, कैसे बसूँ जाय बनवाँ में॥

बरजोरी बसे हो।

रोहिणी गंगा में कूद पड़ती है। हतबुद्धि जीवन देखते रहे। रोहिणी चंद्रमा का पीछा कर रही थी और नीचे उस छपाके से उठते हुए कितने ही बुदबुदों में प्रतिबिंबित रोहिणी की किरणें विलीन हो रही थीं।

चंद्रमा का पीछा रोहिणी जैसे करती है, वैसे ही रोहिणी अपने उन्मत्त प्रेम के कारण जीवनसिंह के लिए भटकती है। यही डोर बाँध कर प्रसाद जी ने इसका भावनात्मक अंत किया है, किंतु कहानी विशेष कला पूर्ण नहीं।

आँधी, दासी और पुरस्कार एक श्रेणी की कहानियाँ हैं। इन कहानियों की नायिकाएँ क्रमशः लैला, इरावती और मधूलिका हैं। इनके अंतस्तल में एक ही आग धधकती है, लेकिन उनका सामाजिक स्वर भिन्न है। लैला, ईरानियों की लड़की है, जो चलते फिरते घरों को जानवरों पर लादे फिरते रहते हैं। इरावती मुल्तान की लूट में म्लेच्छों द्वारा पकड़ ली गई। क्रीत-दासी मधूलिका वीर सिंहमित्र की एकमात्र कन्या है, जो वाराणसी युद्ध में मारे गये। लैला अपने ढंग से सभ्यता के गोद में पले रामेश्वर से प्यार करती है। बाद में रामेश्वर गृहस्थ बन जाता है। लैला जब रामेश्वर के विश्वासघात की बात सुनती है, तब उसका चेहरा क्रोध से तमतमा उठता है। आँखों से ज्वाला निकलने लगती है, उसे रामेश्वर के मित्र सलाह देते हैं कि तुम रामेश्वर को भूल जाओ। 'तुम भूल सकते हो, मैं नहीं, मैं खून करूँगी।' उसकी आँखो से ज्वाला निकल रही थी। इसके बाद लैला अधीर होकर कहती है—'मैं उसको एक बार देखना चाहती हूँ।'

'मैं उसे दिखा दूँगा, पर तुम उसकी कोई बुराई तो न करोगी?' मित्र पूछते हैं।

'हुश!' लैला ने काली आँखें उठा कर देखा। लैला से आँखें मिलते ही रामेश्वर के मुँह पर क्षण भर के लिए एक घबराहट दिखाई पड़ती है। लैला रामेश्वर की बच्ची के गले में मूँगे की माला पहना कर उसका मुँह चूमती हुई उठ खड़ी होती है। इसके बाद लैला उन्मादिनी बन जाती है।

उसके संबंधी उस पर आसेव का असर देखते हैं। वे क्या जाने कि उसके अंदर कैसी आँधी चल रही है। एक दिन लैला सचमुच की आँधी का सामना करती है, पीपल की एक वड़ी डाल उस पर गिर पड़ती है।

मधूलिका के हृदय में प्रेम और राजभक्ति का द्वन्द्व चलता है। वह अरुणकुमार से प्रेम करती है, जो मगध का विद्रोही राजकुमार है और जिसके सामने ललनाओ तथा आकांक्षाओं का चित्र है। वह मधूलिका से कहता है—मैं तुम्हें कोशल के सिंहासन पर बिठा कर अपनी राज-रानी बनाऊँगा। मधूलिका काँप उठती है। वह अरुणकुमार के षड्यन्त्र में सम्मिलित हो जाती है। लेकिन बाद में उसकी सुख की कल्पना नष्ट हो जाती है। वह सोचती है, श्रावस्ती दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में चला जायगा। मगध कोशल का चिरशत्रु। मगध की विजय। सिंहमित्र कोशल राज्य का रक्षक वीर। उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है। 'मधूलिका! मधूलिका!' उसे लगा, जैसे उसके पिता उस अंधकार में पुकार रहे हैं, वह कोशल-नरेश से सारा षड्यंत्र बता देती है। उसका प्रेमी अरुणकुमार पकड़ा जाता है। उसे प्राणदण्ड की आज्ञा होती है। कोशल-नरेश प्रसन्नता से मधूलिका से कहते हैं—तुझको जो पुरस्कार माँगना हो, माँग'। मधूलिका पगली-सी कहती है —मुझे कुछ न चाहिये, राजा कहते हैं—'नहीं! मैं तुझे अवश्य दूँगा, माँग ले।'

तो 'मुझे प्राणदंड मिले।' कहती हुई वह बन्दी अरुण के पास जा खड़ी हुई।

कुछ लोग प्रसाद जी की अधिकांश कहानियों में अस्वाभाविकता का दोषारोपण करते हैं, किन्तु मेरी समझ में तो यही आता है कि जिन कहानियों का सूत्र किसी रहस्य की छाया में फूलता-फलता है, उनमें स्वाभाविक और अस्वाभाविकता का प्रश्न ही नहीं रहता। जब हम वास्तविकता जगत् के हँसते-बोलते हुए पात्रों को अपने सम्मुख चलते फिरते देखते हैं, तभी उन्हें स्वाभाविकता की कसौटी पर कसते हैं।

भाव लोक में भ्रमण करने वाले कवि प्रसाद वास्तविक चित्रण में कितने सफल हुए हैं, इसी का विवरण मैं यहाँ दे रहा हूँ।

'आँधी' संग्रह में प्रसाद जी की चार कहानियाँ—मधुआ, घीसू, बेड़ी और नीरा अन्य कहानियों से भिन्न हैं। इनमें यथार्थवाद की नई धारा बहती है। उनका दृष्टि कोण समय और युग की माँग के साथ अधिक विस्तृत होता है।

'मधुआ' के सम्बन्ध में तो स्वयं प्रेमचन्द जी ने लिखा था कि प्रसाद जी ऐसी कहानी लिख सकेंगे, ऐसा मुझे विश्वास नहीं था। मैं उसे उनकी उत्कृष्ट रचना समझता हूँ।

इसमें सन्देह नहीं कि शराबी का यथार्थवादी चित्रण सभी को पसन्द आया। उसका यह स्वाभाविक दीन सिद्धान्त कितना सरल है।

'सरकार! मौज बहार की एक घड़ी, एक लम्बे दुःख पूर्ण जीवन से अच्छी है। उसकी खुमारी में रूखे दिन काट लिये जा सकते हैं।'

उस निरीह बालक मधुआ के सम्बन्ध में शराबी नियति के पंजे से अलग न हो सका। उसने तिलमिला कर मन-ही-मन प्रश्न किया—किसने ऐसे सु मार फूलों को कष्ट देने के लिये निर्दयता की सृष्टि की? आह री नियति! तब इसको लेकर मुझे घर बारी बनाना पड़ेगा क्या?......'

घीसू का चरित्र भी अनोखा हुआ है, घीसू रेज़गी और पैसे की थैली लेकर बैठता। एक पैसा शायद बट्टा लिया करता। बिन्दो गंगा नहाने आती। कभी रेज़गी पैसे लेने के लिए वह घीसू के सामने आकर खड़ी हो जाती, वह कहती—देखो घिसे पैसे न देना।'

'वाह बिन्दो! घिसे पैसे तुम्हारे ही लिये हैं? क्यों!'

'तुम तो घीसू हो ही, फिर तुम्हारे पैसे क्यों न घिसे होंगे?' कह कर जब वह मुस्करा देती, तो घीसू कहता बिन्दो, इस दुनियाँ में मुझसे अधिक कोई न घिसा होगा, इसी लिए तो मेरे माता-पिता ने घीसू नाम रखा था?'

यथार्थवादी भूमि पर पैदा होकर भी घीसू काल्पनिक सुख से सुखी होता है।

घीसू नगर के बाहर गोधूलि की हरी-भरी क्षितिजरेखा में...उसके सौन्दर्य से रंग भरता, गाता, गुनगुनाता और आनन्द लेता। घीसू की जीवन-यात्रा का वही सम्बल, वही पाथेय था।

सन्ध्या की शून्यता, बूटी की गमक, तानों की रसीली गुन्नाहट और नन्दू बाबू की बीन, यही सब बिन्दो की आराधना की सामग्री थी। घीसू कल्पना के सुख से सुखी होकर सो रहता।

'बेड़ी' कहानी की घटना तो बड़ी स्वाभाविक है। मैंने स्वयं उन दोनों भिखारी पात्रों को देखा है। प्रसाद जी की दुकान पर जब हम लोग बैठते तो कभी एक ९, १० वर्ष का लड़का अन्धे की लाठी पकड़े हुए आता। उसे कुछ मिलता और चला जाता।

कुछ महीनों बाद उस लड़के के पैर में बेड़ी डाल दी गई थी, और वह नटखट बालक धीरे-धीरे लाठी के सहारे अपने पिता को आगे लेकर बढ़ता। हम लोग आश्चर्य से देखते। इस दृश्य का प्रभाव प्रसादजी के ऊपर इतना पड़ा कि उन्होंने एक छोटी सी रचना की।

'नीरा' कहानी में यथार्थवादी दृष्टिकोण का अधिक स्पष्ट चित्रण है। नीरा और उसके बूढ़े नास्तिक पिता का चरित्र बड़ी कुशलता से लेखक ने सम्मुख रखा है। दरिद्रता और लगातार दुःखों से मनुष्य अविश्वास करने लगता है। यही इस कहानी का सूत्र है।

दरिद्रता के वर्णन में ये पंक्तियाँ कितनी जोरदार हैं—बुड्ढा लाई फाँक रहा था, रूखे होठों पर दो एक दाने चिपक गये थे, जो उस दरिद्र मुख में जाना अस्वीकार कर रहे थे।

साधारण कोटि के पात्रों का चरित्र चित्रण करते हुए, उन पात्रों के प्रति लेखक की सहानुभूति छिपे रूप में चल रही हो, यही यथार्थ-वादी साहित्य का सिद्धान्त है।

प्रसाद ने 'आँधी' संग्रह की जिन चार कहानियों में इस दृष्टिकोण को उपस्थित किया है, वे उनके पाँचवें कहानी-संग्रह 'इन्द्रजाल' में पूर्ण हुआ है ।

इस संग्रह की पहली कहानी 'इंद्रजाल' है और इसी कहानी पर संग्रह का नाम रखा गया है। अतएव स्वयं लेखक यह व्यक्त करता है कि इस संग्रह की यह कहानी उसकी दृष्टि में विशेष ध्यान देने योग्य है।

'इंद्रजाल' यथार्थवादी कहानी है। बंजरों के चलते फिरते दल में से बेला और युवक गोली के चरित्र की धारा बड़ी उज्जवल और स्वाभाविक हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक इस श्रेणी की मनोवृत्ति का पूर्ण ज्ञाता है। किंतु प्रसाद की किसी कोटि की कहानियों में भावुकता की मात्रा न हो, यह असम्भव है। इस कहानी में देखिए—

'उस निर्जन प्रान्त में जब अन्धकार खुले आकाश के नीचे तारों से खेल रहा था, तब बेला बैठी कुछ गुनगुना रही थी।'

'बेला साँवली थी, जैसे पावस की मेघमाला में छिपे हुए आलोक पिण्ड का प्रकाश निरखने की अदम्य चेष्टा कर रहा हो, वैसे ही उसका यौवन सुगठित शरीर के भीतर उद्वेलित हो रहा था।'

'गोली जब बाँसुरी बजाने लगता, तब बेला के साहित्य-हीन गीत जैसे प्रेम के माधुर्य की व्याख्या करने लगते।'

आगे चल कर 'सलीम' में भी प्रसाद ने यथार्थवाद की भावना उपस्थित की है।

सलीम—पश्चिमोत्तर-सीमाप्रांत में एक छोटी सी नदी के किनारे पहाड़ियों से घिरे हुए छोटे से गाँव में खत्रियों, ब्राह्मणों और पठानों की बस्ती थी। नंदराम, जिसका हृदय प्रेमकुमारी के प्रेम से स्निग्ध और कोमल हो गया था, घोड़े के व्यापार के लिए यारकंद गया था। प्रेमकुमारी दीप-

दान दे रही थी, तब व्यक्तिगत आवश्यकताओं से असन्तुष्ट, हिजरत से लौटा हुआ युक्तप्रान्त का एक मुसलमान सलीम अपनी कोमल काया से ऊपर आ निकला। प्रेमकुमारी को देख कर वह स्तब्ध रह गया। गाँव के मुखिया के लड़के अमीर ने, जो प्रेमकुमारी को बहन कहता था, उससे कहा—भूखा है ? चल तुझे बाबा से कहकर कुछ खाने को दिलवा दूँगा। लेकिन सलीम के हृदय में विष छटपटा रहा था। उसने वजीरियों से मिल कर लूट मार में पुरस्कार स्वरूप प्रेमा को पाने की कल्पना की। लेकिन वज़ीरियों से लड़ाई में नन्दकुमार की जीत रही। सलीम झाड़ियों में छिप गया। एक धार्मिक वज़ीरी ने उससे कहा—तू भूखा परदेशी बन कर इसके साथ जाकर घर देख आ। नन्दराम ने सरल भाव से सलीम को भी अपने ऊँट पर बिठा लिया।

मनुष्यता का एक पक्ष यह भी है, जहाँ वर्ण, धर्म और देश को भूल कर मनुष्य, मनष्य को प्यार करता है। सलीम सूफी कवियों-सा सौन्दर्योपासक बन गया। नन्दराम के घर का काम करता हुआ, वह जीवन बिताने लगा, उसने भी 'बुते काफ़िर' को अपनी संसार-यात्रा का चरम लक्ष्य बना लिया।

एक दिन सलीम को लंगड़ा वज़ीरी मिला। प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। वह फिर से कट्टर मुसलमान बन गया। अस्सी वजीरियों का दल चारो तरफ से गाँव को घेर कर भीषण गोलियो की बौछार करने लगा। अमीर और नन्दराम बगल मे खड़े होकर गोली चला रहे थे। वजीरियों ने मोर्चा छोड़ दिया। सहसा घर में चिल्लाहट सुनाई पड़ी। नन्दराम भीतर चला गया। उसने देखा प्रेमा के बाल खुले हैं। उसके हाथ में रक्त से रंजित छुरा है। नन्दराम ने कहा—ठहरो अमीर, सलीम हम लोगों का शरणागत है। लेकिन तब तक अमीर ने सलीम की कलाई ककड़ी की तरह तोड़ दी। इसके बाद बहुत दिनों तक वह भीख माँग कर खाता और जीता रहा।

गुंडा—यह कहानी अठारहवीं शताब्दी के अंतिम भाग की है, जब समस्त न्याय और बुद्धिवाद को शस्त्रबल के सामने झुकते देखकर, काशी के

विच्छिन्न और निराश नागरिक जीवन ने एक नवीन संप्रदाय की सृष्टि की, जिसे लोग गुंडा कहते थे। नन्हकूसिंह इसी संप्रदाय का एक प्रतिष्ठित ज़मींदार का पुत्र था। बाल्यावस्था में उसके विवाह की चर्चा पन्ना से चली, लेकिन अत्याचारी बलवंतसिंह द्वारा पन्ना रानी बनाये जाने पर उसने चिरकुमार रहने की प्रतिज्ञा की। वह एक निर्भीक, उच्छृङ्खल और अपनी बात पर अड़ जाने वाला युवक बन गया। तमोली की दूकान पर बैठ कर वह वेश्याओं के गीत सुनता, लेकिन कभी ऊपर नहीं जाता। हेस्टिंग साहब ने जब काशी पर धावा किया, जब नगर में भय और सन्नाटे का राज्य छा गया, चिथरूसिंह की हवेली अपने भीतर काशी की वीरता को बंद किये कायरता का परिचय दे रही थी, उस समय नन्हकूसिंह अपने थोड़े से साथियों को लेकर राज महल की ओर बढ़ गया। राज-परिवार मंत्रणा में डूबा था। नन्हकूसिंह ने कहा—महारानी कहाँ हैं, उन्हें डोगीं पर बिठाइए। नीचे अच्छे मल्लाह तैयार हैं। राजमाता पन्ना डोंगी पर बैठ गई। चेतसिंह ने खिड़की से डोंगी पर उतरते हुये देखा कि नन्हकूसिंह बीसों तिलंगों की संगीनों में अविचल खड़ा होकर तलवार चला रहा है उसका एक-एक अंग वहीं कट कर गिरने लगा। वह काशी का एक गुंडा था।

प्रसाद जी ने कहानियाँ लिखने की कला को बहुत ऊँचे स्थान पर उठाया है। उनकी कहानियों में हिन्दी में प्रथम बार आधुनिक लेखन कला का उदाहरण मिलता है।

कहानी-कला की कसौटी के अनुसार कहानी-लेखक की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह कहाँ तक अपनी इच्छा के अनुकूल पाठकों में वही भावनाएँ संचारित कर सकता है, जो कहानी की रचना के समय उसके अंतस्तल में आंदोलित हो रही थीं। भावनाभि-व्यक्ति की कुशलता के साथ ही एक आधुनिक कहानी-लेखक से यह भी आशा की जाती है कि वह कहानी को इस प्रकार चित्रित करे कि पाठक को यह अनुभव न हो कि कोई तीसरा व्यक्ति

कहानी कह रहा है, बल्कि वह अपने को एक दर्शक की स्थिति में समझे जिसके सामने रंगमंच के समान कहानी की घटनाएँ स्वतः घटती जाती हों।

प्रसाद जी ने जिस समय लिखना आरम्भ किया, उस समय हिन्दी में इस तरह कहानियाँ लिखी जाती थीं—'हाय मालती, तुम्हारी क्या दशा हो गई ?' 'प्यारे पाठकों, जब रामकिशोरसिंह ने कमला की ओर देखा तब उस समय उनके हृदय की हालत अजब हो गई।' 'अहा ! कैसा मनोरम रूप है।' कहानी के घटना संगठन और रचनाक्रम पर भी कुछ ध्यान न दिया जाता था। प्रसाद जी ने हिन्दी कहानियों को आधुनिक रूप प्रदान किया है।

प्रसाद अपनी प्रांजल भाषा और अद्भुत व्यञ्जन कुशलता के कारण बहुत शीघ्र पाठकों को अभिभूत कर लेते हैं।

(१) सालवती कहानी के कुल-पुत्रों का चित्रण।

'ये लोग सम्भ्रान्त कुल-पुत्र थे। कुछ गम्भीर विचारक से वे युवक देव-गन्धर्व की तरह रूपवान थे। लम्बी चौड़ी हड्डियों वाले व्यायाम से सुन्दर शरीर पर दो-एक आभूषण और काशी के बने हुए बहुमूल्य उत्तरीय, रत्न जटित कटिबन्ध में कृपाणी, लच्छेदार बालों के उपर सुनहले पतले पटबन्ध और वसन्तोत्सव के प्रधान चिह्न स्वरूप दूर्वा और मधूक पुष्पों की सुरचित मालिका। उनके मांसल भुजदंड, कुछ-कुछ आसव-पान से अरुण नेत्र, ताम्बूल रंजित सुंदर अधर, उस काल के भारतीय शारीरिक सौन्दर्य के आदर्श प्रतिनिधि थे। (इन्द्रजाल)

(२) 'रूप की छाया' में सरला का चित्रण।

गंगा के स्थिर जल में पैर डाले हुए, नीचे की सीढ़ियों पर सरला बैठी थी। कारु-कार्य-खचित कंचुकी के ऊपर कन्धे के पास सिकुड़ी हुई साड़ी, आधा खुला हुआ सिर, बङ्किमग्रीवा और मस्तक में कुंकुम-बिन्दु महीन चादर

में सब अलग अलग दिखाई दे रहे थे। मोटी पलकों वाली बड़ी-बड़ी आँखें गंगा के हृदय में से मछलियों को ढूँढ़ निकालना चाहती थी। (आकाश-दीप)

प्रसाद की कहानियों के चरित्र का विकास अधिकतर संकेत रूप में होता है। कुशल चित्रकार की भाँति थोड़ी सी रेखाओं में वह अपने चरित्र की सम्पूर्ण झाँकी दिखा देते हैं।

(३) इन्द्रजाल में वंजरों के सरदार का चित्रण।

वंजरो का सरदार मैकू लम्बी-चौड़ी हड्डियोंवाला एक अधेड़ पुरुष था। दया-माया उसके पास फटकने नहीं पाती थी। उसकी घनी दाढ़ी और मूछों के भीतर प्रसन्नता की हँसी भी छिपी ही रह जाती। गाँव में भीख माँगने के लिए जब वजरों की स्त्रियाँ जातीं, तो उनके लिए मैकू की आज्ञा थी कि कुछ न मिलने पर अपने बच्चों को निर्दयता से गृहस्थ के द्वार पर जो स्त्री न पटक देगी, उसको भयानक दण्ड मिलेगा। (इन्दजाल)

(४) गुंडा कहानी में नन्हकूसिंह का चित्रण।

वह पचास वर्ष से ऊपर था, तब भी युवकों से अधिक बलिष्ठ और दृढ़ था। चमड़े पर झुर्रियाँ नहीं पड़ी थीं। वर्षा की झड़ी में, पूस की रातों की छाया में, कड़कती हुई जेठ की धूप में, नंगे शरीर घूमने में, वह सुख मानता था। उसकी चढ़ी मूछें बिच्छू के डंक की तरह, देखने वालों की आँखों में चुभती थीं। उसका साँवला रंग, साँप की तरह चिकना और चमकीला था। उसकी नागपुरी धोती का लाल रेशमी किनारा दूर से ही ध्यान आकर्षित करता। कमर में बनारसी सेल्हे का फेटा, जिसमें सीप की मूठ का बिछुआ खुसा रहता था। उसके घुँघराले बालों पर सुनहले पल्ले के साफे का छोर उसकी चौड़ी पीठ पर फैला रहता। ऊँचे कन्धे पर टिका हुआ चौड़ी धार का गँडासा, यह थी उसकी धज! पंजों के बल जब वह चलता, तो उसकी नसें चटाचट बोलती थीं। वह गुंडा था। (इन्द्रजाल)।

वर्णन के अलावा प्रसाद जी चरित्र-चित्रण में यथावश्यकता संकेत, घटनाओं और वार्तालाप का भी सहारा लेते हैं।

शरद की पूर्णिमा में बहुत से लोग उस सुन्दर दृश्य को देखने के लिए दूर-दूर से आते। युवतियों और युवकों के रहस्यालाप करते हुए जोड़े, मित्रों की मंडलियाँ, परिवारों का दल उनके आनन्द कोलाहल को उदास हो कर देखता। डाह होती, जलन होती, तृष्णा जग जाती, मैं उस रमणीय दृश्य का उपभोग न करके पलकों को दबा लेता। कानों को बन्द कर लेता। (इन्द्रजाल)।

प्रसाद की कहानी की घटनाएँ बहुत सुसंबद्ध होती हैं। यथा मधुआ कहानी में प्लाट बहुत थोड़ा है। शराबी के एकांत जीवन में एक माता-पिता-विहीन अनाथ बालक का प्रवेश होता है, जिसे देख कर उसके हृदय में दया और बाद को ममता का संचार होता है। शराबी ने उसी दिन ठाकुर साहब से एक रुपया पाया था, जिससे वह शराब का अद्धा खरीदना चाहता था। लेकिा वह सारे पैसों की बालक के लिए मिठाई आदि खरीद लाता है। इसके बाद बालक के भरण-पोषण के निमित्त वह शराब छोड़ देने की प्रतिज्ञा करता है और बालक के साथ सान रखने का काम करने लगता है।

प्रसाद की अधिकांश कहानियों में घटना बहुत न्यून होती है। वह थोड़ी सी ही सामग्री पर अपनी अद्भुत शैली से अपना प्रासाद निमित्त करते हैं। वह एक छोटी सी बात को भी कवित्वमय ढंग से चित्रण करते हैं। उनकी कहानियों में भापा शैली की लोच एक विशेषता है।

प्रसाद, जीवन की एक घटना के चित्र को संपूर्ण रूप से चित्रित करते हैं। लेकिन जहाँ वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समाप्त हो जाती है, वहीं कहानी का अंत कर देते हैं। यह उनकी एक कला है। एक उदाहरण—

'रामनिहाल अपना बिखरा हुआ सामान बाँधने में लगा था। जगल से धूप आकर उसके छोटे से शीशे पर तड़फ रही थी। अपना उज्ज्वल

आलोक खण्ड; वह छोटा-सा दर्पण वृद्ध की सुन्दर प्रतिमा को अर्पण कर रहा था। किन्तु प्रतिमा ध्यानमग्न थी। उसकी आँखें धूप से चौंधियाती न थीं। प्रतिमा का शान्त गम्भीर मुख और भी प्रसन्न हो रहा था। किन्तु रामनिहाल उधर देखता न था। उसके हाथों में था एक कागज़ों का बंडल, जिसे सन्दूक में रखने के पहले वह खोलना चाहती थी। पढ़ने की इच्छा थी, फिर भी न जाने क्यों हिचक रही थी और अपने मन को मना कर रही थी, जैसे किसी भयानक वस्तु से बचने के लिए कोई बालक को रोकता हो।

प्रसाद के नाटक

प्रत्येक देश का नाटक-साहित्य वहाँ की विचित्र सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार उत्पन्न हुआ है। साहित्य के अन्य अंगों के विपरीत यह अपने विकास के लिये जनता की शिक्षा और सभ्यता पर अधिक निर्भर है। गीत, काव्य, उपन्यास, दर्शन आदि जन समुदाय तक पहुँचने के लिये समय ले सकते हैं, प्रकाशित होते ही उनके लिये यह आवश्यक नहीं कि जनता उन्हें तुरंत समझ भी ले। जब साहित्य छपता न था, तब लोगों को उसका आनन्द लेने के लिए सामूहिक रूप से उससे गीत या अभिनीत रूप में परिचय प्राप्त करना होता था। इस लिये तब नाटक को प्रथमतः दर्शकों को सुबोध होना आवश्यक था।

ग्रीस में जब वहाँ के विश्व विख्यात नाटककारों ने अपने नाटक लिखे, तब वहाँ साहित्य से परिचय प्राप्त करने का प्रधान साधन नाटक ही था। ग्रीक लोग एक नाटक तीन-तीन दिन तक देखते थे। नाटक उनके गीतकाव्य का एक नवीन रूप था। जिस कथा-वस्तु को लोग गायकों के मुँह से सुनते थे, उसे अब मंच पर अभिनीत देखने लगे और की पूर्णता के लिए वे उसे तीन खण्डों में विभाजित कर उसका तीन दिन तक अभिनय करते थे। इसलिए उनके नाटकों में 'कोरस' का प्रमुख स्थान है, एक या अधिक व्यक्ति मिल कर दर्शकों को कथा समझा देते हैं, तथा घटनाओं पर टिप्पणी भी करते चलते हैं। कुछ लोगों का मत है कि इन कोरसों के गीत ही नाटकों की सार कविता है। उनके कोरस नियति की निर्दयता

के करुण गीत गाते हुए नाटकीयत्व के साथ गीततत्व का अच्छा समन्वय करते हैं।

जिस प्रकार होमर के गीत-काव्य के बाद ऍस्काइलस, सोफोक्लीज़ और यूरीपिडिज़ ने अपने नाटक लिखे, उसी प्रकार संस्कृत में पौराणिक गाथाओं के बाद कालिदास और भवभूति ने अपने प्रसिद्ध नाटक लिखे; किन्तु उनमें गीत काव्य की ग्रीक नाटकों जैसी प्रधानता नही है। इस का कारण यह था कि अपनी भावाभिव्यक्ति के लिये उन के पास महाकाव्य वाला एक दूसरा साधन भी था। कालिदास ने शकुन्तला के साथ 'मेघदूत' भी लिखा। संस्कृत नाटक खेले जाते थे या नहीं यह विवादास्पद है। उनमें स्त्री तथा अन्य विशिष्ट पात्रों के लिए प्राकृत का प्रयोग है। इससे मालुम होता है कि जन साधारण की भाषा प्राकृत हो चुकी थी। ये नाटक या तो विद्वज्जन समाज के मनोविनोद के लिये या केवल काव्य के लिये लिखे गए थे। उगते प्राकृत साहित्य में उनका वही स्थान रहा होगा जो आज कल के साहित्य में प्रसाद जी के नाटकों का है।

ग्रीक समाज जितना सुरुचिपूर्ण और सुसंस्कृत था, वैसा अन्य देशों का समाज कम रहा हे। अंग्रेजी के प्रसिद्ध एलिज़ाबेथन युग में समाज उतना सुसंस्कृत न था। इसीलिए उस काल के नाटकों में कुरुचि का प्रदर्शन बहुत बड़ी मात्रा में हुआ है। शेक्सपियर के नाटक भी अपवाद नहीं हैं। इसके साथ जनता की रुचि के अनुसार भद्दे से भद्दे मार काट और रक्तपात के कथानक चुने जाते थे। इससे उस काल के नाटककारों की कठिनाइयों का पता चलता है। समाज की असंस्कृति से उत्पन्न बाधाओं के होते हुए भी उन नाटकों में तब के लेखक बहुत कुछ कविता भर सके। आज जो वे नाटक प्रसिद्ध हुए हैं, उसी कविता के बल पर; जिस घटना प्रधान सनसनी

से भरे कथानक पर उस समय का समाज मुग्ध होता था, उस कथानक के बल पर नहीं।

प्रसाद जी के नाटक उन्हीं नाटकों की श्रेणी में आते हैं जो अपनी कविता के कारण प्रसिद्ध हुए हैं। आज जो शेक्सपियर, युरिपीडीज़ या कालिदास के नाटकों का मान है, वह इस लिए नहीं कि मंच पर सफल हुए बल्कि इस लिए कि युग-युग से लोग उनकी कविता पढ़ते और उससे आनन्द लाभ करते रहे हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का युग रोमांटिक युग रहा है। प्रसाद, पन्त और निराला उसके प्रतिनिधि कवि रहे हैं; उनकी साहित्यिक व्यञ्जना का माध्यम प्रधानतः कविता रही है। प्रसाद जी ने अपने भावों को व्यक्त करने के लिये काव्य, गीत, मुक्तक, उपन्यास और कहानी के साथ नाटक को भी अपना माध्यम चुना। पुरानी संस्कृति का नवीन स्वप्न उन्होंने अपने नाटकों में रखा। इसमें सन्देह नहीं कि अभिनयकला के प्रदर्शन के लिए प्रसाद जी के नाटकों में गुंजाइश है, लेकिन हिन्दी रंगमंच विकसित न होने से उनकी प्रसिद्धि अभिनय पर निर्भर नहीं रही। इसके साथ जनता की अशिक्षा और पारसी कंपनियों और उनके बाद सिनेमा की लोकप्रियता भी प्रसाद जी के नाटकों के अभिनीत न होने के लिए उत्तरदायी हैं।

फिर भी जैसे ग्रीक, संस्कृत और अंग्रेजी के एलिज़ाबेथन नाटकों की ख्याति उनकी कविता के कारण है, उसी प्रकार प्रसाद जी के नाटकों में उनकी कविता के सभी गुण पूर्ण मात्रा में वर्तमान हैं। उनकी महत्ता उनकी कविता के कारण है, जैसे सर्वत्र 'रोमांटिक' या 'पोएटिक' ड्रामा की रही है। शैली का 'प्रोमिथ्यूस अनबाउण्ड' और गेटे का 'फाउस्ट' पोएटिक ड्रामा के दो सुन्दर निदर्शन हैं। ये अपनी कविता के लिए संसार प्रसिद्ध हैं, उन्हें मंच पर खेलना प्रायः

असम्भव है। इब्सन और शॉ के नाटक सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों को लेकर एक विशेष प्रकार के प्रचार कार्य के लिए लिखे गए हैं। ऊँचे चरित्र-चित्रण और सुन्दर काव्य के अभाव में ये नाटक केवल अपने विचार और प्रचार के बल पर पुराने नाटकों के समकक्षी हो सकते हैं या नहीं, यह अभी तक विवादास्पद है। जो भी हो, प्रसाद जी के नाटकों का अपने संतुलन अनावश्यक है। दोनों ही नितांत विभिन्न श्रेणियों के साहित्य हैं। पहली श्रेणी में प्रसाद जो के नाटक अपनी भावपूर्ण कविता के बल पर ऊँचा स्थान पाते हैं।

प्रसाद के विविध नाटकों की कथा एक दूसरे से भिन्न है, परंतु अदृश्य रूप में उनमें एक ही डोर दौड़ती है। प्रसाद जी ने भिन्न-भिन्न पात्रों की अवतारणा केवल अपने विचारों की पुष्टि के लिए की है। प्रसाद जी ने अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए अधिकांशतया ऐतिहासिक कथानकों को चुना है। इन कथानकों को रोचक बनाने के लिए उन्होंने अपनी ओर से कुछ तोड़-मरोड़ भी की है, लेकिन उतनी ही मात्रा में जितनी एक नाटककार के लिए आवश्यक है। प्रसाद जी की सदैव यही चेष्टा रही है कि वह ऐतिहासिकता को तथा उस प्राचीन वातावरण की सजीव अवतारणा करते हुए अपना संदेश व्यक्त करें।

यह प्रसिद्ध है कि दार्शनिक क्षेत्र में प्रसाद जी रहस्यवादी थे, उनके रहस्यवाद की तह में एक विश्वमंगलकारी आशावाद का संदेश है। उनका नैराश्य, करुणा और विश्व-प्रेम की भावनाओं का संचारक है। उनका मत है, 'क्षमा से बढ़ कर और किसी बात में पाप को पुण्य बनाने की शक्ति नहीं है। जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं, वह शुद्ध मनुष्यता है। इसी पृथ्वी को स्वर्ग होना है, इसी पर देवताओं का निवास होगा।'

प्रसाद जी के संपूर्ण चरित्रों को तीन श्रेणियों में बॉटा जा सकता है।

(१) देवता

(२) राक्षस

(३) मनुष्य

देवता चरित्रों में गौतम, प्रेमानंद और वेदव्यास को गणना की जा सकती है। वे संसार में रहते हुए भी उससे असंलग्न रहते हैं। उनमें वैराग्य और निर्वेद की भावना प्रधान रहती है। उसके साथ एक सात्विक वातावरण रहता है। वे आधाराभूत दार्शनिक तत्वों और धर्म सूत्रों को तर्क के द्वारा प्रतिपादित करते हैं और उनके संसर्ग में आकर दुष्ट चरित्र भी सुधर जाते है।

'जनमेजय का नाग यज्ञ' में वेदव्यास अंधरूढ़ियों और मिथ्या जातीय अभिमान के विरुद्ध उपदेश देते हैं। उनका कथन है, 'असत्य युक्त आज्ञा, चाहे वह किसी की हो, नहीं माननी चाहिए, क्योंकि अन्त में वही विजयी होता है। जो लोग सत्य पर आरूढ़ रहते हैं, विश्वात्मा उनका कल्याण करती है।'

'अजातशत्रु' में गौतमबुद्ध भी यही उपदेश देते हैं—'सत्य सूर्य को कोई चलनी से नही ढॅक सकता,' 'हमें अपना कर्तव्य करना चाहिए, दूसरों के मलिन कार्यों के विचार से भी चित्त पर मलिन छाया पड़ती है'। 'विशाख' मे प्रेमानन्द कहते हैं—'सत्य को सामने रखो, आत्मबल पर भरोसा रखो, न्याय की मॉग करो।

राक्षस (अथवा दुष्ट) चरित्रो में कश्यप, देवदत्त, शांतिभिक्षु, विरुद्धक आदि की गणना की जा सकती है। मनुष्यो में सत् और असत् दोनों प्रकार की प्रवृत्तियॉ होती हैं, परन्तु इनमें से जब एक पलड़ा भारी हो जाता है, तब हम अपनी कल्पना के अनुसार देवता अथवा राक्षस चरित्रों का अनुमान करते हैं। राक्षस चरित्र भी

परिस्थितियों के संघर्ष में आते हैं और अपनी प्रबल तामसी भावनाओं के कारण उन परिस्थितियों तक को अपने वश में कर सारा वातावरण कलुषित बना डालते हैं। असफलता प्राप्त होने पर भी जुआरी की भाँति एक बार और का दाँव खेलते हुए अपनी घात को सफल बनाने की चेष्टा करते हैं, परंतु अंत में अपनी दुर्वृत्तियों की पराजय अथवा सांसारिक लिप्सा की निस्सारता के कारण उनमें वैराग्य की भावना उत्पन्न होती है, और वे देवता चरित्रों की शरण लेते हैं।

प्रसाद जी के नाटकों के विधान में इन राक्षस चरित्रों का बहुत महत्व है, क्योंकि उनसे प्रकट होता है कि उनमें सभी मनुष्यों के अन्दर एक कोमल हृदय होने की अवस्था कितनी प्रबल थी।

देव चरित्रों और राक्षस चरित्रों के साथ ही प्रसाद जी ने ऐसे चरित्रों का अवतरण कराया है, जो दुनियाँ की तरंगों पर बहते हैं। वे रमणीय प्रलोभन और भयानक सौंदर्य के सामने घुटने टेक देते हैं। उनमें मनुष्य की सभी स्वाभाविक कमजोरियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं। प्रसाद जी ने ऐसे चरित्रों के प्रति अपने हृदय की समस्त सहानुभूति उड़ेल दी है।

प्रसाद जी के चरित्र-चित्रण की एक विशेपता यह है कि वह उनके सहजाता संस्कारों का परिचय कराते हुए रंगमंच पर उनका प्रवेश करा देते हैं। इसके बाद परिस्थितियों के संघर्ष में आकर इन पात्रों के चरित्रों का विकास होता है।

चरित्र-चित्रण के चार साधन हैं। १. वार्तालाप। २. स्वगत कथन। ३. दूसरों का कथन। ४. कार्य व्यापार। प्रसाद जी ने अपने चरित्र-चित्रण में चारों साधनों का उपयोग किया है। कथोपकथन वही आकर्पक होता है, जिसका कार्य व्यापार से सम्बन्ध हो।

दार्शनिक विवेचन के समय उनके पात्र कभी-कभी बहुत लम्बे भाषण स्वगत कथन के रूप में कर जाते हैं। इससे रंगमंच पर अभिनय की दृष्टि से अवश्य नाटक में कुछ शिथिलता आती है, परन्तु साहित्यिक दृष्टि से ये स्थल बड़े रोचक बन पड़े हैं।

प्रसाद जी ने अपने जीवन काल में ११ सुन्दर नाटक निर्माण किये। उनका क्रम इस प्रकार है।

सज्जन— रचनाकाल १६१० ई०
करुणालय— " १६१२ ई०
प्रायश्चित्त— " १६१३ ई०
राज्यश्री— " १६१४ ई०

इसके अनन्तर प्रसाद जी ने सात वर्ष तक कोई नाटक नहीं लिखा। सन् १६२१ ई० में विशाख और २२ में अजातशत्रु लिख कर चार वर्ष तक वह फिर नाटककार के रूप में हमारे सामने नहीं आए। सन् १६२६ ई० में उन्होंने फिर नाटक लिखना आरम्भ कर दिया और उनकी सूची इस प्रकार है।

जनमेजय का नाग यज्ञ—१६२६ ई०
कामना— १६२७ ई०
चन्द्रगुप्त— १६२८ ई०
स्कन्दगुप्त— १६२८ ई०
एक घूँट— १६२६ ई०

इसके बाद फिर चार वर्ष का अन्तर देकर सन् १६३२ ई० में उनका ध्रुवस्वामिनी नाटक लिखा गया, और उसे ही हम उनका अन्तिम नाटक कह सकते हैं। इन नाटकों के काल के अनुसार ही उनमें क्रमशः कला का विकास भी होता है। हम उनके सम्पूर्ण नाटकों को चार भागों में विभक्त कर सकते हैं।

पहला खण्ड

सज्जन—यह उनका प्रथम नाटक है। इसकी रचना प्राचीन नाटकों की शैली के अनुसार ही हुई है। सूत्रधार आता है। चारों ओर देख कर—अहा! आज कैसा मंगलमय दिवस है, हमारे प्यारे सज्जनों की मंडली बैठी हुई है, और सत् प्रबन्ध देखने की इच्छा प्रकट कर रही है। तो मैं भी अपनी प्यारी को क्यों बुलाऊँ? (नेपथ्य की ओर देख कर) प्यारी, अरी मेरी प्राणप्यारी!

नटी—क्या है! क्या!

सूत्रधार—यही है कि जो है सो......(सिर खुजलाता है।)

नटी—कुछ कहोगे कि केवल जो है सो।

सारांश यह कि नाटक उसी पुराने ढर्रे पर चलता हुआ, बात बात में पारसी स्टेज की तरह गद्य के साथ पद्य का पुट देकर आगे बढ़ता है। उदाहरण—

दुर्योधन—अहा! हा! यह स्थान भी कैसा मनोरम है, सरोवर में खिले हुए कमलों के पराग से सुरभित समीर इस वन्य प्रदेश को आमोदमय कर रहा है।

नील-सरोवर बीच, इन्दीवर अवली खिली।
कर्ण— मनु कामिनी कच बीच, नीलम की वेन्दी लसै।
दुर्योधन— जल महँ परसि सुहात, कुसुमित शाखा तरुन की।
कर्ण— मनु दर्पण दरसात, निज चूमत कामिनी।
दुर्योधन— सारस करत कलोल, सारस की अवलीनमय।
कर्ण— मनु नरपति के गोल, चक्रवर्ती विहरण करैं।

समष्टि में उनका प्रथम नाटक हिन्दी रंगमंच की पुरानी रीति नीति के साथ ही साथ चलता है, इस नाटक में ५ दृश्य हैं। पांडवों के प्रति षड्यंत्र और उनकी हत्या के प्रयत्न में दुर्योधन, कर्ण, शकुनी आदि की सहायता

से सफल होना चाहता है। घटनावश दुर्योधन गन्धर्वराज की आज्ञा की अवहेलना कर आखेट के लिये जाता है। गन्धर्वराज इसी कारण उस पर क्रुद्ध हो उसे युद्ध में हराकर अपना बन्दी लेता है। युधिष्ठिर को पता चलता है। वह अपनी स्वाभाविक सज्जनता वश अर्जुन को उसकी रक्षा के लिये भेजते हैं और इस तरह दुर्योधन को मुक्ति मिलती है।

सज्जन की रचना के पश्चात् प्रसाद ने करुणालय गीत नाट्य लिखा। सज्जन को पढ़ने ही से यह प्रतीत होता है कि आरम्भ में पद्य की ओर प्रसाद की रुचि अधिक थी। सज्जन में पद्य भाग अधिक है। पात्रों द्वारा पद्य में ही कई स्थानों मे वार्ता होती है। अतएव गीत नाट्य लिखने की उनकी रुचि सज्जन की रचना करते समय ही हुई है, ऐसा विश्वास होता है।

करुणालय—अयोध्या के महाराज हरिश्चन्द्र अपने पुत्र रोहित की बलि देने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं, किन्तु रोहित जंगलों में भ्रमण करता हुआ, अजीगर्त के आश्रम में पहुँचता है। अकाल में सब पीड़ित हैं। रोहित के कहने पर एक सौ गाय के बदले में अजीगर्त अपने मध्यम पुत्र शुनः शेफ को बलि चढ़ाने के लिए दे देता है। रोहित शुनः शेफ को लेकर आता है।

यज्ञ-मण्डप में हरिश्चन्द्र, रोहित, वसिष्ठ होता इत्यादि बैठे हैं। शुनः शेफ यूप से बँधा हुआ है। शक्ति उसे वध करने के लिए बढ़ता है, पर सहसा रुक जाता है।

इस समय शुनः शेफ कारुणिक ढंग से प्रार्थना करता है—'हे ज्योतिष्पथ-स्वामी, क्यों इस विश्व की रजनी में तारा प्रकाश देते नहीं इस अनाथ को, जो असहाय पुकारता पड़ा दुख के गर्त बीच अति दीन हो हाय ! तुम्हारी करुणा को भी क्या हुआ जो न दिखाती स्नेह पिता का पुत्र से।'

उसी समय आकाश में गर्जन होता है। सब शक्तिहीन और त्रस्त होते हैं। विश्वामित्र का प्रवेश होता है। अन्त में कथा का रहस्य इस तरह खुलता है कि विश्वामित्र को गन्धर्व विवाहिता स्त्री सुव्रता के गर्भ से शुनः

शेफ उत्पन्न हुआ था और ऋषि आश्रम में उसे छोड़ कर सुव्रता अन्तःपुर में दासी बनी।

शुनः शेफ का बन्धन आप से आप खुल जाता है।

प्रायश्चित्त—प्रसाद जी का तीसरा नाटक है, इसमें जयचन्द के कुचक्र द्वारा वीर पृथ्वीराज का अन्त होता है। केवल ६ दृश्यों में यह समाप्त हो जाता है। पृथ्वीराज की चिता जल चुकी है, जयचन्द अपनी हिंसा की आग बुझाने वहाँ जाता है। उसकी राख को वह अपने पैरों से कुचलना चाहता है।

कई बार आकाशवाणी होती है। कोई कहता है—पृथ्वीराज की खोपड़ी एक पिशाच के हाथ में दे और संयोगिता की तू ले, दोनों लड़ाकर देख कौन फूटती है।

संयोगिता की याद कर उसे पश्चात्ताप होता है। अपने दुष्कर्मों के प्रायश्चित्त के लिए उसे केवल आत्मवध ही दिखलाई पड़ता है। वह मुहम्मद गोरी ऐसे विश्वासघाती के ऊपर आक्रमण करने के लिए सेना भेज देता है। पुरस्कार में साम्राज्य मिलने की आशा में प्राण भी संकट में पड़ा, यह देख कर जयचन्द सब कुछ छोड़ कर गंगा में कूद पड़ता है।

'प्रायश्चित्त' में मुझे सब से आश्चर्य की एक बात यह मिली कि मुहम्मदगोरी के दरबार में जो वार्तालाप होता है, उसकी भाषा उर्दू मिश्रित है। प्रसाद के किसी नाटक में खोजने पर भी ऐसी भाषा न मिलेगी, किन्तु यह उनका आरम्भिक प्रयोग है, सम्भवतः इसी लिए ऐसा हुआ हो। देखिए—

मुहम्मद—बहादुर शफ़क़त ! आज सचमुच हिन्दोस्तान इस्लामी झंडे के नीचे आ गया और यह सब तो एक बात है, दर असल खुदाए पाक को ज़ीनत देना मंजूर है। नहीं तो भला इन फौलादी देवजादे हिन्दुओं पर फतह पाना क्या मुमकिन था ?

सज्जन और प्रायश्चित्त छोटी नाटिकायें हैं। जैसे छोटी कहानी का प्लाट नाटकीय वर्णन द्वारा प्रस्तुत किया जाय तो नाटिका बन जाती है और उपन्यास का प्लाट नाटक के रूप में परिवर्तित करने पर नाटक बन जाता है। अतएव प्रायश्चित्त और सज्जन नाटकीय कहानियाँ हैं।

प्रसाद की इन आरम्भिक रचनाओं पर दृष्टि डालने पर यह भली भाँति विदित होता है कि लेखक की प्रतिभा मार्मिक स्थलों पर प्रकाश डालने में अत्यन्त प्रवीण है।

राज्यश्री—इसकी रचना राज कवि बाण के हर्ष चरित और चीनी यात्री सुएनच्वांग के विवरण के अनुसार ही की गई है। विकटघोष और सुरमा को छोड़ कर सभी पात्र ऐतिहासिक हैं। लेखक की भूमिका में यह स्पष्ट है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि विकटघोष और सुरमा के काल्पनिक चित्रण में प्रसाद अधिक सफल हुए हैं। लेखक के शब्दो के अनुसार इस रूपक का प्रधान उद्देश्य राज्यश्री का चरित्र-चित्रण है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राज्यश्री का आदर्श चरित्र सम्पूर्ण हुआ है।

राज्यश्री के प्रथम संस्करण मे केवल तीन अंक ही थे और दूसरे संस्करण में कुछ दृश्य और एक अंक बढ़ा दिया गया। शान्ति भिक्षु (विकटघोष) सुरमा और सुएनच्वांग ये तीनों पात्र बाद में जोड़े गए हैं। यही कारण है कि उस आरम्भिक रचना में प्रतिभा की परिपक्वता के काल में जोड़े गए पात्र अधिक प्रभावशाली हुए हैं। दूसरे संस्करण मे नान्दी आदि को भी स्थान नहीं मिला है।

राज्यश्री कन्नौज के राजा ग्रहवर्मा की रानी है। राजा का मन उदासीन रहा करता है। वह राज्यश्री से कहता है—इस विश्वव्यापी वैभव के आनन्द में यह मेरा हृदय सशंक होकर मुझे आज दुर्लभ बना रहा है।

वह अपने मनोविनोद के लिए सीमाप्रान्त के जंगलों में अहेर के लिए जाता है और मालव सेना द्वारा सीमा पर ही उसका अन्त होता है। इधर

मालव का राजा देवगुप्त अपनी सेना सहित षड्यन्त्र द्वारा राज्यश्री और दुर्ग पर अधिकार कर लेता है।

राज्यश्री का भाई स्थाणीश्वर का बड़ा राजकुमार राज्यवर्द्धन सेना के साथ अपनी बहन की सहायता के लिए आता है। गौड़ का राजा नरेन्द्रगुप्त भी सहायक होता है। देवगुप्त अपना अधिकार जमा कर सुरमा के साथ मदिरा पान कर रहा था।

शान्तिदेव अब विकटघोष बन कर राज्यश्री को बन्दी घर से निकाल ले जाता है। देवगुप्त मारा जाता है। नरेन्द्रगुप्त अपने स्वार्थ के लिए प्रलोभन देकर विकटघोष और सुरमा द्वारा राज्यवर्द्धन की हत्या कराता है और अन्त में वह भी मारा जाता है।

विकटघोष सुरमा को पाकर हत्या आदि अपराधों में और भी अधिक उत्साह से भाग लेता है। राज्यश्री को दो डाँकू साथियों के आधीन छोड़ कर विकटघोष धन की लालसा में व्यग्र रहता है।

दिवाकर मित्र के द्वारा राज्यश्री डाँकूओं से मुक्त होकर उसी महात्मा के आश्रम में रहती है। राज्यवर्द्धन का छोटा भाई हर्षवर्द्धन अपनी बहन का पता लगाते हुए वहाँ पहुँचता है। राज्यश्री उस समय अपने जीवन का अन्त करना चाहती थी, किन्तु हर्षवर्द्धन के बहुत समझाने पर राज्यश्री मानव जाति के कल्याण की कामना लेकर जीवित रहना स्वीकार करती है। हर्षवर्द्धन और राज्यश्री दान में अपनी सम्पत्ति बाँट देते हैं। दोनों बौद्ध धर्म ग्रहण करते हैं।

हर्षवर्द्धन धर्म राज्य का शासन करने के लिए राज मुकुट और दण्ड ग्रहण करता है।

दूसरा खण्ड

प्रसाद के प्रथम काल में रचित नाटक अथवा रूपक विशेष म[illegible] पूर्ण नहीं हैं। उनमें उस महान लेखन कला और भावुकता का [illegible]

ही दिखलाई पड़ता है। द्वितीय काल में पदार्पण करते ही 'विशाख' से उनका ऐतिहासिक अन्वेषण भी आरम्भ होता है।

विशाख को ही पहला नाटक समझना चाहिये, क्योंकि राज्यश्री भी नाटिका के रूप में ही है। संस्कृत-साहित्य की लब्ध प्रतिष्ठित राजतरंगिणी की एक ऐतिहासिक घटना पर ही विशाख की रचना हुई है।

प्रमाणों द्वारा प्रसाद ने यह निर्णय किया है कि यह घटना १८०० वर्ष पहले की है। उस समय की रीति-नीति का परिचय देना कठिन है, फिर भी जहाँ तक हो सका है, उसी काल का चित्रण करने का प्रयत्न किया गया है।

आगे चल कर हम प्रसाद के सभी नाटकों में देखते हैं कि पात्रों की वार्ता के सम्बोधन, उनकी वेष-भूषा और उनका नागरिक जीवन इत्यादि सभी बातों में उस काल का चित्रण करने में प्रसाद हिन्दी-साहित्य के सफल लेखक हैं।

अपने ऐतिहासिक पात्र पात्रियों के जीवन के भिन्न-भिन्न अंगों पर प्रकाश डालने की आवश्यकता के कारण, प्रसाद को ऐतिहासिक अन्वेषण की ओर बढ़ना पड़ा। यही कारण है कि उनके कल्पित पात्र भी कहीं-कहीं ऐतिहासिक पात्रों की समानता करते हुए दिखलाई पड़ते हैं।

ब्राह्मण नागरिक विशाख से कल्पित महापिंगल कहता है—जैसे नाटकों के पात्र स्वगत जो कहते हैं, वह दर्शक समाज वा रंग-मंच सुन लेता है, पर पास का खड़ा हुआ दूसरा पात्र नहीं सुन सकता, उनको भरत बाबा की शपथ है, उसी तरह राजा की बुद्धि देश भर का न्याय करती है, पर राजा को न्याय नहीं सिखा सकती।

विशाख—गुरुकुल से शिक्षा समाप्त करके, काश्मीर के राजा नरदेव के राज्य में ब्राह्मण नागरिक विशाख भ्रमण करता है। एक दिन चन्द्रलेखा से उसका सामना होता है। सुन्दरी चन्द्रलेखा नाग सर्दार सुश्रवा की कन्या है। राजा ने उसकी समस्त भूमि छीन कर बौद्ध विहार को दे दी थी। वह

निराश्रय होकर अपनी दोनों पुत्रियों चन्द्रलेखा और इरावती के साथ किसी तरह अपना दिन काट रहा था। घटनाक्रम के अनुसार कानीर विहार का बौद्ध महन्त सत्यशील एक दिन चन्द्रलेखा के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसे अपने विहार में बन्दिनी बनाता है।

विशाख के प्रयत्न से किसी तरह वह मुक्त होती है तो राजा नरदेव उस पर आकर्षित होता है। अन्त में प्रजा का विद्रोह राजा का सुधार करता है। विशाख, चन्द्रलेखा के साथ गृहस्थी बना कर सुखी होता है।

अजातशत्रु—अजातशत्रु का यह समस्त संस्करण है। इसके प्रत्येक संस्करण में लेखक ने संशोधन और कुछ परिवर्तन किए हैं। अतएव इस नाटक में आरम्भिक कृति की झलक नहीं दिखलाई पड़ती है।

प्रसाद के नाट्य-कला सम्बन्धी सिद्धान्त अजातशत्रु से ही आरम्भ होते हैं। अजातशत्रु में अधिक सफलता का एक कारण यह भी है कि उसका कथानक अन्तरद्वन्द्व की डोर में इस तरह बँधा हुआ है कि कहीं से भी शिथिलता आने नहीं पाई है।

यह स्पष्ट है कि प्रसाद की रुचि बौद्ध धर्मावलम्बित शासकों का चित्रण करने में अधिक रही है। मैंने प्रायः उन्हें बौद्ध साहित्य और इतिहास का अध्ययन करते देखा है। अजातशत्रु के कथा प्रसंग में प्रसाद स्वयं लिखते हैं—भारत का ऐतिहासिक काल गौतम बुद्ध से माना जाता है, क्योंकि उस काल की बौद्ध कथाओं में वर्णित व्यक्तियों का पुराणों की वंशावली में भी प्रसंग आता है। इसलिये लोग वहीं से प्रामाणिक इतिहास मानते हैं।

कथाभाग—मगध के सम्राट् बिम्बसार की दो रानियाँ थीं, वासवी और छलना। छलना की प्रेरणा और कुचक्रों द्वारा ही उसका पुत्र अजातशत्रु सम्राट् होता है, और बिम्बसार अपना अधिकार छोड़ कर भगवान की उपासना में दिन व्यतीत करते हैं। गौतम बुद्ध के उपदेश से ही ऐसा होता है।

वासवी अपने पति को निःसहाय अवस्था में देख कर दहेज में कोशल

नरेश से मिली हुई काशी प्रान्त की आय, अपने पति के लिये सुरक्षित रखना चाहती है। इसी प्रश्न को लेकर मगध और कौशल में युद्ध छिड़ता है।

अजातशत्रु की भाँति कोशल नरेश का पुत्र विरुद्धक भी पिता के विरुद्ध विद्रोह करता है। डाँकू बन कर मल्लिका के पति कोशल सेनापति बधुल की हत्या काशी जाकर करता है। इसमें दो रहस्य हैं, एक तो मल्लिका के प्रति वह आकर्षित था, दूसरे अजातशत्रु का सहायक हुआ।

वासवी की पुत्री पद्मावती का विवाह कौशाम्बी के राजा उदयन से हुआ था। उसकी तीन रानियाँ थीं। मागन्धी के षड्यंत्र से उदयन पद्मावती की हत्या करने को प्रस्तुत होता है। उस पर झूठा अपराध लगाया जाता है कि वह सर्प द्वारा राजा का प्राण लेना चाहती है, किन्तु रहस्य खुल जाता है। अन्त में उदयन पद्मा से क्षमा माँगता है और मागन्धी वहाँ से भाग जाती है। वह काशी में आकर वेश्या बनती है। विरुद्धक जो अब शैलेन्द्र डाँकू के नाम से विख्यात है, उस पर वह श्यामा वेश्या आसक्त होती है। अन्त में एक दिन शैलेन्द्र गला दबा कर उसे मरी समझ कर चला जाता है, किन्तु भगवान् बुद्ध की शक्ति से वह जीवित होती है और भिक्षुणी बन जाती है।

राजा प्रसेनजित् और उदयन दोनों मिलकर मगध पर आक्रमण करते हैं। अजातशत्रु बन्दी बना कर कोशल भेजा जाता है। एक दिन अचानक अजातशत्रु को बन्दीगृह में देखकर कोशल कुमारी वाजिरा उस पर मुग्ध होती है, और उसे मुक्त करना चाहती है, किन्तु उसी समय वासवी और कोशल नरेश वहाँ आकर अजातशत्रु को मुक्त करते हैं। वासवी इसी प्रयत्न के लिए कोशल गई थी। वाजिरा से अजातशत्रु का विवाह करा कर वासवी दोनों को लेकर मगध लौटती है।

कोशल सेनापति की हत्या में राजा प्रसेनजित् का भी कुछ हाथ था, किन्तु मल्लिका उसे क्षमा कर देती है और उसी के प्रयत्न से विरुद्धक तथा उसकी माता को भी राजा क्षमा करते हैं।

अजातशत्रु को जब पुत्र उत्पन्न होता है, तब वह पिता के महत्व को समझता है और बिम्बसार के सम्मुख जाकर क्षमा माँगता है।

तीसरा खण्ड

जनमेजय का नाग यज्ञ—कलियुग के आरम्भ काल की यह पौराणिक घटना है। भगवान् कृष्ण के आदेशानुसार अर्जुन ने खाण्डव वन में आग लगा कर नागों को भस्म किया। उसी की प्रतिहिंसा रूप में नागराज तक्षक द्वारा अर्जुन के पुत्र राजा परीक्षित मारे गये।

परीक्षित का पुत्र जनमेजय अपने पिता का बदला लेने के लिये नाग जाति का विध्वंस करना चाहता था।

वेदऋषि के गुरुकुल में अपनी शिक्षा समाप्त करने पर उत्तम गुरुदक्षिणा के लिये प्रस्ताव करता है। गुरुदेव कहते कि मैं तुम्हारी तेजस्विता से प्रसन्न हूँ, अपनी गुरुपत्नी से पूछो। दामिनी उसे अपनी वासना का शिकार बनाने में असमर्थ हो कर उससे रानी का मणिकुंडल चाहती है।

लोभी काश्यप अपनी कुमन्त्रणा के कारण पुरोहित के स्थान से हटाने पर भी महाभिषेक की दक्षिणा राजा द्वारा प्राप्त करता है।

रानी वपुष्टमा की दान शीलता के कारण उत्तंक को मणिकुंडल मिल जाता है, किन्तु तक्षक को काश्यप से जब यह पता चलता है कि उससे हरण किया हुआ मणिकुंडल उत्तंक के पास है तो वह उसकी हत्या करके उसे लेना चाहता है। सहसा वासुकी और सरमा के आ जाने पर वह ऐसा नहीं कर पाता। उत्तंक मणिकुण्डल गुरु-पत्नी को देता है।

एक दिन शिकार खेलने जनमेजय जाता है और धोखे से बाण लगाने के कारण जरत्कारु ऋषि की मृत्यु हो जाती है। ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त स्वरूप अश्वमेध यज्ञ की योजना होती है, उसी समय तक्षक की कन्या मणिमाला को जनमेजय देखता है। दोनों एक दूसरे पर आकर्षित होते हैं।

उत्तंक राजा के यहाँ जाकर उसे तक्षक के प्रति उत्तेजित करता है। जनमेजय प्रतिज्ञा करता है कि अश्वमेध के पहले नाग यज्ञ होगा। अपने तीन भाइयों को तीन ओर अश्वमेध यज्ञ के लिये विजय प्राप्त करने के हेतु भेजता है और स्वयं नाग जाति पर आक्रमण करता है।

काश्यप के स्थान पर सोमश्रवा राज पुरोहित होता है और काश्यप तक्षक से मिल कर राजा के प्रति षड्यंत्र रचता है। जरत्कारु ऋषि की पत्नी, नाग सरदार वासुकी की वहन मनसा, वासुकी की यादवी पत्नी सरमा और दोनों के पुत्र माणवक और आस्तीक भी इस षड्यंत्र मे सम्मिलित होते हैं। नागों द्वारा रानी और अश्वमेध का घोड़ा पकड़ा जाता है। युद्ध होता है। तक्षक इत्यादि पकड़े जाते हैं। काश्यप की कुटिल नीति के कारण राजा ब्राह्मणों के निर्वासन की आज्ञा देता है और अश्वमेध के पहले नागों की आहुती में देना निश्चित होता है। उसी समय वेदव्यास वहाँ आते और उनके उपदेश के कारण जनमेजय अपना विचार बदलता है। वेदव्यास रानी की पवित्रता का प्रमाण देते हैं। अन्त में रानी द्वारा ही तक्षक को पुत्री मणिमाला से जनमेजय का विवाह होता है। उसी समय से आर्य और नाग जाति दोनों सम्मिलित होती हैं।

कामना—कामना जैसी उत्कृष्ट रचना केवल दो सप्ताहों में ही समाप्त की गई थी। प्रसाद की भावुकता उन दिनों उच्च शिखर पर पहुँच गई थी। वह दिन रात अपनी कल्पनाओं में लीन रहते थे। बातें करते हुए भी वह अपनी नोटबुक में कुछ लिख लिया करते थे।

कामना पाश्चात्य दृष्टान्त की कथा के ढंग का रूपक है। जिसमें निराकार भावनाऍं एवं विचार साकार पात्रों के रूप में प्रकट होकर किसी सिद्धान्त की स्थापना करता है।

समुद्र तट पर फूलों का एक द्वीप है, वहाँ के निवासी सांसारिक अपराधों और माया से मुक्त हैं। वे प्रकृति के अचल में फूले फले हैं। एक दिन विदेश से नाव पर बैठा हुआ एक युवक आता है। कामना उसे देखती है। युवक

विलास अपना स्वर्ण पट खोल कर युवती कामना के सिर पर भी बाँध देता है।

तारा की इन भोली-भाली संतानों से स्वर्ण और मदिरा का प्रचार कर के विलास उन्हें अपनी ओर आकर्षित करता है।

लीला भी चमकीली वस्तु स्वर्ण की चाह करती है। कामना उसे दिलाने का वचन देती है। संतोष के साथ निश्चित होने पर भी कामना की इच्छानुसार विनोद के साथ लीला का विवाह होता है।

कामना वहाँ के लोगों की उपासना का नेतृत्व करती थी। विलास उसे रानी बनाकर नवीन शासन की व्यवस्था करता है। विनोद राज्य का सेनापति बनाया जाता है।

विवेक सबको सावधान करता है, लेकिन उसे पागल समझ कर कोई उसकी बात नहीं सुनता।

शान्तिदेव के पास बहुत सा सोना है। अतएव कुछ लोग उसकी हत्या करते हैं। अपराध की सृष्टि होती है। कारागार की उत्पत्ति होती है।

सन्तोष विवेक से कहता है—छिपकर बातें करना, कानों में मन्त्रणा करना, छुरों की चमक से आँखों में त्रास उत्पन्न करना, वीरता नाम के किसी अद्भुत पदार्थ की ओर अंधे होकर दौड़ना युवकों का कर्तव्य हो रहा है। वे शिकार और जुआ, मदिरा और विलासिता के दास होकर गर्व से छाती फुलाये घूमते हैं, कहते हैं, हम धीरे-धीरे सभ्य हो रहे हैं।

कामना विलास को चाहते हुए भी उससे विवाह नहीं कर पाती, रानी की पवित्रता के नाम पर वह अविवाहित रहती है। लालसा के साथ विलास का विवाह होता है।

स्वर्ण के लिये युद्ध होता है। स्वर्ण और स्त्री [illegible] विलासिता का प्रचार इतना बढ़ जाता है कि नागरिक [illegible] से मदिरा माँगता है।

अन्त में भूकम्प से नगर का [illegible] [illegible]

विवेक की बातें अब लोगों के समझ में आने लगीं, वह कहता है—उस दिन प्रतीक्षा में कठोर तपस्या करनी होगी; जिस दिन ईश्वर और मनुष्य, राजा और प्रजा, शासित और शासकों का भेद विलीन होकर विराट् विश्व, जाति और देश के वर्णों से स्वच्छ होकर एक मधुर मिलन क्रीडा का अभिनय करेगा।

बहुत से लोग अपने स्वर्णाभूषण और मदिरा के पात्र तोड़ते हैं। विलास और लालसा नौका पर बैठ कर अन्य देश में जाना चाहते हैं। सब नागरिक उस पर स्वर्ण फेंकते हैं। नाव डगमगाती है।

कामना, सन्तोष का हाथ पकड़ती है।

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य—ऐतिहासिक नाटक है। अजातशत्रु की तरह इसमें भी अन्तरद्वन्द्व की प्रधानता है। बड़ी रानी देवकी के प्रति अनन्तदेवी छोटी रानी का षड्यंत्र चलता है। मगध सम्राट् कुमारगुप्त विलासिता के कारण शासन व्यवस्था पर ध्यान नहीं देते।

युवराज स्कन्दगुप्त का राज्य के प्रति उदासीन भाव रहता है। वह समझते हैं कि अधिकार सुख कितना मादक और सार-हीन है।

'इधर मालव नरेश विश्वकर्म्मा की युद्ध में सहायता करने के लिये स्कन्दगुप्त जाता है और पुष्प मित्रों के आक्रमण से सेनापति पर्णदत्त समस्त सेना लेकर मगध को सुरक्षित रखेंगे'।

अनन्तदेवी अपने पुत्र पुरगुप्त को राज्याधिकारी बनाना चाहती है। उसके षड्यंत्र में महा सेनापति भटार्क भी सम्मिलित होता है, किन्तु यह समाचार गुप्त रखा जाता है।

मंत्री पृथ्वीसेन, महा दण्डनायक और महा प्रतिहारी सहसा रोकने पर भी प्रवेश करते हैं। वहीं अन्तर्विद्रोह न करके तीनों छुरा मार कर आत्म-हत्या करते हैं।

अनन्तदेवी के कुचक्रों द्वारा देवकी की हत्या का षड्यंत्र रचा जाता है, किन्तु ठीक समय पर स्कन्दगुप्त के आ जाने पर वैसा नहीं हो पाया।

स्कन्दगुप्त अपनी माता के साथ उज्जयिनी जाता है। सम्राट होने पर स्कन्दगुप्त अपराधियों को क्षमा करता है।

बौद्ध कापालिक प्रपंच बुद्धि श्मशान पर एक बलि देना चाहता है। विजया अपने द्वेष के कारण बहला कर देवसेना को वहाँ ले जाती है, किन्तु उसी समय स्कन्दगुप्त वहाँ पहुँच कर उसे बचाता है।

म्लेच्छ राज्य का विध्वंस होता है। अनन्तदेवी हूणों से मिल कर स्कन्दगुप्त पर आक्रमण कराती है। भटार्क गहरा धोखा देता है। स्कन्दगुप्त और उसकी सेना शत्रु का पीछा करते हैं, किन्तु बाँध तोड़े जाने के कारण सब नदी में बह जाते हैं।

स्कन्दगुप्त बहुत दिनों तक इधर-उधर भटकता है। देवकी का अन्त होता है। विजया स्कन्दगुप्त से प्रेम का तिरस्कार पाकर आत्महत्या करती है। मालव कुमारी देवसेना भीख माँग कर दिन काट रही थी। स्कन्दगुप्त को रत्नगृह प्राप्त होता है। भटार्क पश्चात्ताप करते हुए आत्महत्या करना चाहता है। स्कन्दगुप्त के रोकने पर वह फिर सेना का संकलन करता है। हूणों से फिर युद्ध होता है। स्कन्दगुप्त विजयी होकर आजीवन अविवाहित रहता है।

चन्द्रगुप्त—चन्द्रगुप्त नाटक में चाणक्य का विशेष स्थान है। तक्षशिला गुरुकुल में मगधवासी चन्द्रगुप्त, मालव राजकुमार सिंहरण, गान्धार के राजकुमार आम्भीक, राजकुमारी अलका तथा चाणक्य एक दूसरे से परिचित होते हैं।

मगध नरेश नन्द विलासिता तथा अत्याचार का प्रदर्शन करते हुए शकटार, चाणक्य तथा मौर्य्य आदि प्रतिष्ठित राज्यकर्मचारियों को बन्दी बनाता है। चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त नन्द की राजसभा में यवनों से [illegible] का सुगम उपाय बताते हैं, किन्तु मगध नरेश द्वारा वह अस्वीकृत किया जाता है। शिखा खींची जाने पर, चाणक्य नन्दवंश के नाश की प्रतिज्ञा करता है।

आम्भीक सिकन्दर का पक्ष लेता है तथा पर्वतेश्वर सिकन्दर से लड़ता रहता है। बीच ही में पौरव तथा सिकन्दर में सन्धि हो जाती है। [illegible]

पर्वतेश्वर का साथ छोड़कर कूटनीति को प्रारम्भ करता है। मालव तथा शूद्रक मैत्री कर, चन्द्रगुप्त के सेनापतित्व में सिकन्दर को रोकने का प्रयत्न करते हैं। मालव दुर्ग में सिकन्दर घायल होता है और लौट जाता है। सिंहरण तथा अलका वैवाहिक बन्धन में बँध जाते हैं।

कल्याणी, मालविका तथा कार्नेलिया तीनों ही चन्द्रगुप्त के प्रति आकर्षित होती हैं और चन्द्रगुप्त भी उनके प्रति आकर्षित मालूम पड़ता है। चाणक्य पर्वतेश्वर को आत्महत्या करने से बचाता है और आधे मगध का लोभ देकर अपनी तरफ कर लेता है। राक्षस को भी छल से वह रोक रखता है। मगध में विप्लव की सम्पूर्ण तैयारी हो जाती है।

चाणक्य के कुसुमपुर पहुँचने पर शकटार, मालविका, मौर्य्य, वररुचि आदि शकटार के बनाए हुए मार्ग से, बन्दीगृह से बाहर आते हैं। चाणक्य की कूटनीति से राक्षस नन्द द्वारा बंदी किया जाता है। इससे प्रजा में उत्तेजना फैलाई जाती है। राजसभा में सभी पहुँचते हैं। नन्द पहले तो बंदी किया जाता है। पश्चात् शकटार द्वारा मार दिया जाता है। परिषद चन्द्रगुप्त को गद्दी देता है। कल्याणी द्वारा पर्वतेश्वर मारा जाता है तथा वह स्वय भी आत्महत्या कर लेती है।

चन्द्रगुप्त के दक्षिणापथ विजय करके लौटने पर राक्षस उसे मार डालने का षड्यंत्र रचता है, किन्तु उसके स्थान पर मारी जाती है—मालविका। सिकन्दर के मरने पर सेल्यूकस भारत पर चढ़ाई करता है। आम्भीक की सहायता से चन्द्रगुप्त युद्ध में सेल्यूकस को बन्दी बनाता है। दोनों में सन्धि होती है और कार्नेलिया से चन्द्रगुप्त का विवाह होता है। राक्षस को प्रधान मन्त्री नियुक्त कर चाणक्य वन को चला जाता है।

एक घूँट—स्वास्थ्य, सरलता तथा सौन्दर्य के प्राप्त कर लेने पर प्रेम-प्याले का 'एक घूँट' पीना पिलाना ही आनन्द है। इसकी पूर्णता बंधन-युक्त होने ही पर ही सम्भव है।

अरुणाचल आश्रम का एक सघन कुञ्ज है। वनलता बैठी हुई, नेपथ्य

में होते हुए गाने को ध्यानपूर्वक सुन रही है। वह समझती है—रसाल उसको भूल गया है। रसाल आनन्द के स्वागत में होने वाले अपने व्याख्यान की सूचना बनलता को देता है।

आनन्द स्वच्छन्द प्रेम का उपासक है। आश्रम में कुछ दिनों से इसीका प्रचार कर रहा है।

व्याख्यान होने पर चन्दूल विदूषक अपने वैवाहिक जीवन का उल्लेख करते हुए, नियमित प्रेम की सफलता दिखलाता है। झाड़ू वाला भी अपनी स्त्री के साथ आकर बन्धन युक्त प्रेम का समर्थन करता है।

बनलता अपने अभाव पर विचार कर रही है। आनन्द उससे प्रेम के प्याले की घूँट माँगता है। छिपा हुआ रसाल प्रकट होकर बनलता के साथ एक हो जाता है

आनन्द चिरपरिचित की खोज में निमग्न प्रेमलता के हाथ से 'एक घूँट' पीकर अपने स्वच्छन्द प्रेम को बाँधता है।

चौथा खण्ड

ध्रुवस्वामिनी—यह प्रसाद जी का अन्तिम नाटक है।

गूँगी बनी हुई दासी, एकान्त में, ध्रुवस्वामिनी से चन्द्रगुप्त का प्रेम बतलाती है। रामगुप्त छिपा हुआ सब सुनता है।

मंत्री शिखर स्वामी शकराज की संधि की शर्तों को सुनाते हैं। महादेवी के साथ अन्य स्त्रियाँ भी सन्धि में माँगी जाती हैं।

रामगुप्त शर्तों से सहमत हो जाता है। ध्रुवस्वामिनी आत्महत्या के लिये प्रस्तुत होती है।

चन्द्रगुप्त छद्मवेषी सामन्त कुमारों के साथ, ध्रुवस्वामिनी [illegible] है। शकराज को मारकर दुर्ग पर अधिकार कर लेता है।

राज्यपरिषद के निर्णयानुसार रामगुप्त के स्थान पर चन्द्र[illegible] घोषित होता है।

रामगुप्त धोखे से चन्द्रगुप्त को मारना चाहता है, किन्तु [illegible] द्वारा स्वयं मारा जाता है।

प्रसाद के निबन्ध

प्रसाद जी के निबन्धों को हम तीन श्रेणी में बाँट सकते हैं—पहली श्रेणी में वे पाँच कथा-प्रबन्ध हैं, जो आरम्भिक काल में लिखे गये हैं और 'चित्राधार' में प्रकाशित हुए हैं, इन कथा प्रबन्धों में पहले 'ब्रह्मर्षि' विश्वामित्र और वशिष्ठ के द्वन्द्व का कथानक है, वशिष्ठ की महानता के कारण विश्वामित्र स्वयं लज्जित होते हैं, दूसरी पंचायत में स्कन्द और गणेश दोनों में कौन बड़ा है, इसका निर्णय कराने के लिए नारद, शंकर के पास जाते हैं। अन्त में ब्रह्मा इसका निर्णय करते हैं कि जो इन दोनों में से समस्त विश्व की परिक्रमा करके पहले आवेगा, वही बड़ा होगा, गणेश जी विजयी होते हैं।

शेष तीन गद्यकाव्य के रूप में हैं। 'प्रकृति सौन्दर्य' में कवि की जिज्ञासा देखिए—

और यह क्या ? देवि ! यह कैसा अद्भुत दृश्य ! कहाँ वह श्याम-घन मे सौदामिनि माला, कहाँ स्वच्छ नील गगन में पूर्ण चन्द्र ! अहा यह मुझे ही भ्रम हुआ, यही तो शारदीय स्वरूप है ! वह देखो नगरों की सीमा के बाहर तथा नदी के तट पर कास का विकास, और निर्मल जल-पूरित नदियों का मन्द प्रवाह, शारदीय चन्द्र का पूर्ण प्रकाश, सरोवरों में सरोजगण का विकास, कुछ शीत वायु, छिटकी हुई चन्द्रिका का हरित वृक्ष, उच्च प्रासाद नही, पर्वत, कटे हुए खेत, तथा मातृ धरणी पर रजत मार्ज्जित आभास ! वाह ! वाह ! यह कैसा नटी की तरह यवनिका परिवर्तन ! शीत का हृदय कँपाने वाला वेग, हिम पूरित वायु का सन्नाटा, शस्यक्षेत्र में

मुक्ताफल-समान ओस की बूँदे, उन पर प्रभात सूर्य किरण की छाया। यह सब दृश्य कैसा आनन्द देता है, पुनः कृष्ण पक्ष के शिशिर शर्वरी में गंभीर शीतवायु का प्रचण्ड वेग, गाढ़ान्धकार, जिसमे कि सामने की परिचित वस्तु देखने में भी चित्त भय से काँप जाता है।

'सरोज' का अंतिम अंश है—तुम से बढ़कर संसार कानन में अन्य कुसुम है ?

'भक्ति' में लेखक भगवान् के प्रति अपना प्रारम्भिक ज्ञान इस तरह उपस्थित करता है—भक्ति क्या है ! भक्ति ईश्वर से अनन्य प्रेम को कह सकते हैं, और भक्ति को परीक्षा ज्ञान भी कह सकते हैं, ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती, किन्तु मुक्ति से क्या है, मुक्ति से मनुष्य ईश्वर से मिल सकता है।

ऊपर के उद्धरणों से सहसा विश्वास नहीं होता कि प्रसाद के लिखे हुए ये निबन्ध हैं, कारण उनकी शैली आकर्षक नहीं, उनके भाव विशेष उज्जवल नहीं है और उनकी भाषा साधारण है, किन्तु यह मानना पड़ेगा कि यह उनके युवावस्था के लिखे हुए गद्य का उदाहरण है। आगे चल कर उनके भाव कितने गहन और भाषा कितनी प्रांजल हुई है, यह हम भलीभाँति समझते हैं।

दूसरी श्रेणी मे हम उन निबन्धों को रख सकते हैं, जो उन्होंने अपने नाटकों की भूमिका के रूप मे लिखा है अथवा चाहिये कि उन्हीं निबंधों के अन्वेषित ऐतिहासिक ही उन नाटकों की रचना हुई है। चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, राज्यश्री और ध्रुवस्वामिनी का कथा प्रसंग [illegible] पढ़ने ही से प्रसाद जी की अध्ययन-शीलता और [illegible] पता चलता है।

प्रसाद जी का एक और ऐतिहासिक लेख [illegible] और उसका प्रथम सम्राट' कोषोत्सव स्मारक ग्रन्थ में [illegible]

था। कामायनी महाकाव्य समाप्त करने के पश्चात् 'इन्द्र' पर एक नाटक लिखने का उनका विचार था। उस नाटक के लिए जो सामग्री उन्होंने एकत्रित की थी, उसी का सारांश इस लेख में है। इस लेख में उन्होंने प्रमाणित किया है कि 'इंद्र' ही प्राचीन आर्यावर्त के प्रथम सम्राट् थे। यहाँ उसका अन्तिम अंश देना मैं आवश्यक समझता हूँ।

वह आर्य सभ्यता के इतिहास का प्रारंभिक अध्याय है, जब इंद्र ने आत्मवाद का प्रचार किया, असुरों पर विजय प्राप्त की और आर्यावर्त में साम्राज्य स्थापन किया।

त्रिसप्तक प्रदेश की बसनेवाली भिन्न-भिन्न आर्य संस्थाओं का, जो अपना स्वतन्त्र शासन करती थी, और आपस में लड़ती थीं सम्राट् बन कर इन्द्र ने एक में व्यूहन किया और वैदिक काल की भरत, तृत्सु, पुरु आदि वीर मंडलियाँ एक इन्द्रध्वज की छाया में अपनी उन्नति करने लगीं। संसार में इन्द्र पहले सम्राट् थे। पिछले काल में असुरों ने उन प्राचीन घटनाओं के संस्मरण से अपना पुराण चाहे विकृत रूप में बनाया हो, परंतु है वह सत्य इतिहास; आर्यों का ही नहीं, अपितु मनुष्यता का, जब मनुष्य में आकाशी देवता पर से आस्था हटा कर आर्यसत्ता का विश्वास उत्पन्न हुआ।

तीसरी श्रेणी में प्रसाद के अन्य आठ निबंध हैं, जिनका संग्रह उनके स्वर्गवास के बाद प्रकाशित हुआ है। काव्य और कला तथा अन्य निबंध ही उनकी अन्तिम पुस्तक मानी जाती है। प्रसाद के प्रथम श्रेणी और तीसरी श्रेणी में रखे गये निबंधों में लगभग बीस वर्ष के समय का अंतर पड़ता है। बीस वर्षों में लेखक की प्रतिभा और शैली का विकास, अपनी पूर्णता तक पहुँच जाता है। यह आरंभिक और अंतिम रचनाओं का अध्ययन करने पर भलीभाँति ज्ञात हो जाता है।

प्रसाद के इसी निबंध-संग्रह के आधार स्वरूप हमने उनका सिद्धान्त और मत इस पुस्तक में उपस्थित किया है। अतएव अब यहाँ फिर से उनके संक्षिप्त विवरण की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। केवल निबंधों की सूची ही पर्याप्त होगी। १—काव्य और कला, २ – रहस्यवाद ३—रस, ४—नाटकों में रस का प्रयोग, ५—नाटकों का आरम्भ, ६—रंगमंच, ७—आरंभिक पाठ्य काव्य, ८—यथार्थवाद और छायावाद।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अपने ढंग की यह अकेली रचना है और हिंदी में साहित्य की आलोचना का बदला हुआ दृष्टिकोण अपने वास्तविक रूप को परखने में समर्थ होगा।

भाषा और शैली

लेखक की कृति पढ़ते समय तीन बातों पर ध्यान अवश्य ही रखना पड़ता है; उसके भाव व्यक्त करने की प्रणाली, शब्दों का संकलन तथा वाक्य-रचना और विषय प्रसंग। यही साहित्य मे क्रमशः शैली, भाषा तथा विषय के नाम से प्रसिद्ध है। इनमें भाषा और शैली प्रमुख है। इस लिए इनका स्पष्टीकरण आवश्यक है।

शब्दकोष में एक ही शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं, किन्तु प्रत्येक पर्यायवाची शब्द द्वारा भिन्न, भिन्न चित्र अंकित होते हैं और पृथक्-पृथक् भावो की अभिव्यक्ति होती है। यदि केवल पर्यायवाची होने ही के कारण एक शब्द के स्थान पर दूसरे शब्द का प्रयोग किया जाय, तो यह सम्भव नहीं कि लेखक अपने भावों को उचित रूप से व्यक्त कर सके। अतएव शब्दों का संकलन लेखक के लिए आवश्यक है। उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया जाय, जिनके द्वारा अभिलषित भाव पूर्ण रूप से व्यक्त हों।

शब्दो के संकलन में केवल यही एक बात नहीं है, किन्तु शब्दों की ध्वनि का भी ध्यान रखना आवश्यक होता है। कुछ शब्द किसी स्थान पर कटु हो सकते हैं और दूसरे समानार्थी शब्द उसी स्थान पर मधुर। यह स्वाभाविक है कि मधुर को छोड़ कर कटु को कोई भी पसन्द न करेगा।

वाक्य-रचना भी भाषा का एक प्रमुख अंग है। शब्दो को वाक्य में नगीने की तरह बैठना भी एक कला है। प्रत्येक शब्द का वाक्य में अपना-अपना स्थान होता है और जब वे उचित स्थान पर नहीं

बैठाये जाते तब उनकी आभा मन्द पड़ जाती है और भाव धुँधले। उनको विचार पूर्वक बैठाने में लेखक की सफलता छिपी रहती है। लेखक का व्यक्तित्व भी इसी से झलकता है। प्रत्येक लेखक की अपनी लिखने की प्रणाली होती है।

वाक्यों को 'पैरा' मे उचित रूप से व्यवस्थित करना आवश्यक है। एक वाक्य का दूसरे से सम्बन्ध रहता है और एक दूसरे को स्पष्ट करते हैं। यदि उनके क्रम में कोई त्रुटि हुई तो अर्थ का अनर्थ हो जाता है। असम्बद्ध होने पर उनके द्वारा भावों को व्यक्त करना असम्भव हो जाता है। अतएव वाक्यों को भी व्यवस्थित रूप से सजाना भाषा का मुख्य कार्य है।

भाषा की सुन्दरता के लिए अन्य बातों पर भी ध्यान देना आवश्यक होता है। भाषा सरल तथा अलंकृत होने से ही आकर्षण उत्पन्न करती है। सरलता के माने यही हैं कि वह भाषा जो भावों को [illegible] रूप में व्यंजित करे, जिसको लोग हृदयंगम कर सकें।

अलंकार से भाषा का सौन्दर्य विकसित होता है किन्तु किसी तरुणी को नख से शिख तक अलंकारों ही से विभूषित कर दिया जाय तो भद्दा मालूम होता है। इसी तरह भाषा को भी [illegible] से अधिक अलंकृत कर देना अस्वाभाविक है। [illegible] उपयुक्त हैं, जितने भाषा की सुन्दरता बढ़ा सकें। अलंकार [illegible] भाषा में सरलता भी आ जाती है। [illegible] मुख्यतः [illegible] कार्य है। उनके द्वारा भाव स्पष्ट हो जाते हैं और [illegible] के सम्मुख उपस्थित हो जाता है।

परन्तु उदाहरणों और उपमाओं में जो अन्तर है, [illegible] रखना चाहिए। उपमाएँ जितनी स्पष्टता से भावों को [illegible] सकती है, उतने उदाहरण नहीं।

मुहावरों तथा वाक्य-खंडों द्वारा भी भाषा में सरलता तथा स्पष्टता आ जाती है। वही पुराने मुहावरे तथा वाक्यखंड बहुत दिनों से उसी रूप में प्रयुक्त होने के कारण कुछ वृद्ध से मालूम पड़ते हैं। अगर उन्हीं को शब्दों के हेर फेर द्वारा नवीन रूप में उपस्थित किया जाय तो भाषा में नया ओज आ जायगा।

इन सिद्धान्तों को सम्मुख रखकर अब हम प्रसाद जी की भाषा का विवेचन करेंगे। प्रसाद जी की भाषा के सम्बन्ध में कहने के पूर्व उनकी कुछ विशेषताओं को समझ लेना आवश्यक है।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रसाद जी हिन्दी के युग-प्रवर्त्तक लेखक और साहित्य स्रष्टा थे। समीक्षक, अध्ययनशील और दार्शनिक होने के कारण उनके पास परिपक्व विचारों तथा भावों की निधि थी, जिसे उन्हें साहित्य को समर्पित करना था। प्रसाद जी ने साहित्य और समाज का पूर्ण रूप से विवेचनात्मक अध्ययन किया था।

प्रसाद जी की कल्पनाएँ प्रायः बहुत ऊँची होती हैं। इसका मुख्य कारण अध्ययनशीलता और अनुभूति ही है। अतएव उनकी प्रायः सभी कृतियाँ बहुत ही पुष्ट और परिमार्जित रूप में प्रस्तुत हुई हैं। उनके शब्दों का संकलन, वाक्य-रचना और भाषा भी, उसी तरह पुष्ट और प्रभाव पूर्ण है।

कवि होने के कारण उनकी भाषा कुछ लोगों को क्लिष्ट प्रतीत होती है; किन्तु क्लिष्टता के भी दो रूप हैं। यदि किसी रचना में क्लिष्टता वर्तमान है तो वह रचना साहित्यिक भी हो सकती है और असाहित्यिक भी। यह विचारणीय है कि वास्तव में रचना साहित्यिक है अथवा नही? यदि रचना साहित्यिक है तो क्लिष्टता क्लिष्टता नही रह जाती। स्वयं प्रसाद जी का कहना है—

पात्रों की सस्कृति के अनुसार उनके भावों और विचारों मे तारतम्य होना भाषाओ के परिवर्तन से अधिक उपयुक्त होगा। देश और काल के

अनुसार सांस्कृतिक दृष्टि से भाषा में पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए।

लेखक की विचारधारा भावों भी परिपक्वता और अध्ययन की गति के अनुसार ही उसकी भाषा भी गम्भीर तथा भावपूर्ण होती जाती है। प्रसाद जी की कृतियों की भी यही विशेषता है।

अजातशत्रु में देखिए—आह, जीवन की क्षण-भंगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है। आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षर से लिखे हुए अदृष्ट के लेख जब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं, तभी तो मनुष्य प्रभात समझने लगता है और जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होकर अनेक अकांड-तांडव करता है। फिर भी प्रकृति उसे अंधकार की गुफा में ले जाकर उसका शान्तिमय, रहस्यपूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझने का प्रयत्न करती है। वह कब मानती है? मनुष्य व्यर्थ ममत्व की आकांक्षा में मरता है; किन्तु अपनी नीची और सुदृढ़ परिस्थिति में उसे सन्तोष नहीं होता; नीचे से ऊँचे चढ़ना ही चाहता है, चाहे फिर गिरे भी तो क्या?

लेखक कितने संक्षिप्त रूप में जीवन के तत्व की विवेचना कर रहा है। 'जीवन-संग्राम', 'अकांड-तांडव', 'अदृष्ट के लेख' इत्यादि जितने शब्द अथवा वाक्य-खंड हैं, उनमें जीवन के एक-एक अंग के चित्रों का विश्लेषण है।

प्रसाद जी की रचनाओं में गूढ़ वाक्य प्रायः सूत्र की तरह प्रतीत होते हैं। कुछ उदाहरण—

१—रत्न मिट्टियों में से ही निकलते हैं। स्वर्ण मे [illegible] ने तो कभी एक भी रत्न उत्पन्न नहीं किया। (तितली) [illegible] अपने व्यक्तित्व में पूर्ण विश्वास करने की क्षमता होनी चाहिए [illegible] सहायता की आवश्यकता नहीं। (तितली) ३—[illegible] में कृत्रिमता बढ़ाकर, सभ्य और पशु से कुछ ऊँचा [illegible], बनने से बच जाता है। (स्कन्दगुप्त)।

प्रसाद के वाक्य उनकी विचारधारा के साथ चलते

की गति के अनुसार ही उनका क्रम बनता है। अतएव जब उनके विचार स्पष्ट रहते हैं, तो कैसे कहा जा सकता है कि उनके वाक्य जटिल हैं ?

शैली का साधारण तात्पर्य लेखक के भाव व्यक्त करने की प्रणाली से है। प्रत्येक लेखक का वर्णन करने का अपना निजी ढंग होता है। शैली द्वारा ही लेखक का व्यक्तित्व उसकी रचना में चित्रित होता ह। इसीलिए कहा गया है कि शैली ही लेखक है, और लेखक ही शैली है।

शैली पर समय की गति का भी प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक युग की अपनी शैली होती है और उस युग के रीति-रिवाज पर निर्भर करती है। लेखक कभी-कभी अपनी अपरिपक्वता के कारण अपनी शैली निर्धारित नहीं कर पाता। वह स्वभावतः सामयिक धारा में बह जाता है।

सफल लेखक की शैली की कुशलता इसी में छिपी रहती है कि कभी-कभी व्यंगात्मक और तर्कपूर्ण विचारों को वह इस तरह से उपस्थित करता है कि पाठक उसके मनोभावों से सहमत होकर उसकी सराहना करने लगते हैं। लेखक का व्यक्तित्व और ज्ञान जब तक अपनी सीमा तक नहीं पहुँच जाता तब तक उसकी शैली भी अधूरी रहती है।

भाव-व्यञ्जना की प्रणाली में स्पष्टता और सरलता भी आवश्यक गुण है। इसीलिए कि लेखक की विचारधारा के साथ पाठक भी उसी गति में चल सके। भावों का तारतम्य ऐसा होना चाहिये कि वे एक दूसरे का समीकरण करते रहें अन्यथा यदि किसी भाव का उद्रेक अधिक हुआ तो वह असह्य हो जाता है।

शैली में जब तक ओजस्विता और परिमार्जित शब्दों का प्रयोग न होगा तब तक पाठकों के हृदय में उसका पूर्ण प्रभाव न पड़ेगा।

रचना के आवेग के कारण ही शैली रोचक होती है। वर्तमान युग में राष्ट्रभाषा के नाम पर हिन्दी का रूप विकृत बना दिया गया है और पुष्ट तथा परिमार्जित रूप को लोग क्लिष्ट तथा पथरीला कहने लगे हैं।

भाव-व्यंजना लेखक की अनुभूति का परिणाम है। अतएव जितनी सुन्दर अनुभूति होगी उतनी सुन्दर व्यंजना होगी। अपने भावों को लेखक किस तरह उपस्थित करता है, यही उसके व्यक्त करने की कला है।

प्रसाद की रचनाओं में ऐसा कोई स्थान नहीं दिखाई पड़ता, जहाँ उनके भाव अस्पष्ट हों; किन्तु यह बात दूसरी है कि पढ़ने के पहले ही क्लिष्टता का भाव मन में रखकर कोई उसके बाह्य स्वरूप से ही घबड़ा उठे।

प्रसाद की आरम्भिक कृति 'विशाख' में उनकी शैली अपना स्वरूप बना लेती है। देखिये—

शैशव! जब से तेरा साथ छूटा तब से असन्तोष, अतृप्ति और अहह अभिलाषाओं ने हृदय को घोंसला बना डाला। इन विहंगों का कलरव मन को शान्त होकर थोड़ी देर भी सोने नहीं देता। यौवन सुख आता है—यह एक भारी भ्रम है। आशामय भावी सुखों के कठोर कर्म्मों का संकलन ही कहना होगा। उन्नति के लिए मैं दौड़ लगानेवाला हूँ। देखूँ, क्या अदृष्ट में है।

लेखक की भाव-व्यंजना में 'अदृष्ट', 'घोंसला' शब्द कितने सहायक हुए हैं, यह स्पष्ट है। प्रसाद की युवा सांसारिक जीवन के प्रति क्या भावना है, यह समझाने नहीं पड़ती। केवल एक अदृष्ट शब्द में ही विधाता में विश्वास प्रकट होता है।

शैली का दूसरा उदाहरण अजातशत्रु से देखिये—

मल्लिका ! तुम्हें मैंने अपने यौवन के पहले ग्रीष्म की अर्द्ध रात्रि में आलोक पूर्ण नक्षत्रलोक से कोमल हीरक कुसुम के रूप में आते देखा। विश्व के असंख्य कोमल कंठ की रसीली तानें पुकार बनकर तुम्हारा अभिनन्दन करने, तुम्हें सम्हाल कर उतारने के लिये नक्षत्र लोक को गई थीं। शिशिर कणों से, रिक्तपवन तुम्हारे उतरने की सीढ़ी बना था। ऊषा ने स्वागत किया, चाटुकार मलयानिल परिमल की इच्छा से परिचारक बन गया, और बरजोरी मल्लिका के एक कोमल वृन्त का आसन देकर तुम्हारी सेवा करने लगा। उसने खेलते-खेलते तुम्हें उस आसन से भी उठाया और गिराया। तुम्हारे धरणी पर आते ही जटिल जगत की कुटिल गृहस्थी के आलबाल में आश्चर्यपूर्ण सौन्दर्यमयी रमणी के रूप में तुम्हें सबने देखा।

लेखक की इस शैली में साधारण पाठकों को समझने में कुछ कठिनाई अवश्य पड़ेगी; किन्तु मल्लिका के पूरे जीवन की आलोचना में लेखक जो कुछ कह रहा है, वह स्पष्ट है।

प्रसाद की प्रांजल भाषा यदि वर्तमान हिन्दुस्तानी के साँचे में ढाल दी जाय, तो उनकी शैली का पूर्ण सौन्दर्य और मधुरता नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है ?

——

रहस्यवाद

हिन्दी संसार में रहस्यवाद और छायावाद को लेकर बहुत वाद-विवाद उठ चुका है। कुछ लोगों की यह धारणा है कि जो बातें समझ में नहीं आतीं, वे ही रहस्यवाद हैं।

अंग्रेजी के 'मिस्टिसिज्म' का अर्थ छायावाद और रहस्यवाद दोनों ही में लगाया जाता है, किन्तु छायावाद और रहस्यवाद में बड़ा-अन्तर है।

'हिन्दी में मिस्टिसिज्म और सेम्बोलिज़्म के प्रभेद को दृष्टिगत न रख कर रहस्यवाद और छायावाद का प्रायः समान अर्थ में प्रयोग किया जाता है, परन्तु दोनों में सब से बड़ा भेद शायद यह है कि एक तो एक प्रकार का सात्विक आत्मानुभूति का नाम है और दूसरा एक विशेष ढंग का रचना-प्रणाली है, जिसमें प्रकृत के द्वारा किसी अप्रकृत का सन्देश रहता है।

प्रोफेसर शिलीमुख ने दोनों के भेद में शायद लगा कर स्पष्ट किया है। अतएव मैं इस छायावाद के सम्बन्ध में प्रसाद का मत उपस्थित करता हूँ—

कुछ लोग इस छायावाद में अस्पष्टवाद का भी रंग [illegible] सकता है कि जहाँ कवि ने अनुभूति का पूर्ण तादात्म्य नहीं [illegible] वहाँ अभिव्यक्ति विशृंखल हो गयी हो, शब्दों का चुनाव ठीक [illegible] हृदय से उसका स्पर्श न होकर मस्तिष्क से ही मेल हो [illegible] सिद्धान्त में ऐसा रूप छायावाद का ठीक नहीं कि जो कुछ [illegible] मात्र हो; वास्तविकता का स्पर्श न हो, वही छायावाद है [illegible] यह रहस्यवाद भी नहीं है। प्रकृति विश्वात्म की छाया या

इसलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में ले आकर छायावाद की सृष्टि होती है। यह सिद्धान्त भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलम्बन, स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्य धारा में होने लगा है, किन्तु प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।

छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तरस्पर्श करके भाव समर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि छायावाद न तो प्रतीकवाद है; न प्रतिविम्बवाद है; न कोरा प्रकृतिवाद है, वह तो आन्तरस्पर्श वाली अभिव्यक्ति का वाद है।

कुछ आलोचकों का कहना है कि रहस्यवाद विदेशी वस्तु है—

भारतीय भक्ति काव्य को रहस्यवाद का आधार लेकर नहीं चलना पड़ा। यहाँ के भक्त अपने हृदय से उठे हुए सच्चे भाव भगवान् की प्रत्यक्ष विभूति को बिना किसी संकोच और भय के बिना प्रतिबिंबवाद आदि वेदान्तवादों का सहारा लिए सीधे अर्पित करते रहे। मुसलमानी अमलदारी में रहस्यवाद को लेकर जो निर्गुण भक्ति की बानी चली वह बाहर से—अरब और फारस की ओर से—आई थी। वह देशी वेश में एक विदेशी वस्तु थी। इधर अंगरेजों के आने पर ईसाइयों के आन्दोलन के बीच जो ब्रह्मो समाज बंगाल में स्थापित हुआ उसमे भी पौत्तलिकता का भय कुछ कम न रहा।*

प्रसादजी लिखते है—

---

* देखिए—पं० रामचन्द्र शुक्ल रचित 'काव्य मे रहस्यवाद।' पृष्ठ संख्या १०७

रहस्यवाद के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसका मूल उद्गम सेमेटिक धर्म भावना है, और इसलिए भारत के लिए वह बाहर की वस्तु है, किन्तु श्याम देश के यहूदी, जिनके पैगम्बर मूसा इत्यादि थे, सिद्धान्त में ईश्वर को उपास्य और मनुष्य को जिहोवा (यहूदियों के ईश्वर) का उपासक अथवा दास मानते थे। सेमेटिक धर्म में मनुष्य की ईश्वर से समता करना अपराध समझा गया है। भारतीय रहस्यवाद ठीक मेसोपो-टामियाँ से आया है, यह कहना वैसा ही है, जैसा वेदों को 'सुमेरियन-डाकमेण्ट' सिद्ध करने का प्रयास······वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी सम्पत्ति है, इसमें सन्देह नहीं।

अब प्रश्न उठता है कि यह रहस्यवाद है क्या ? इस सम्बन्ध में हिन्दी के अनेक विद्वानों का मत यहाँ मैं उपस्थित कर रहा हूँ—

(क) रहस्यवाद अपने मूल प्रयोग में, एक प्रकार की भावना या आन्तरिक अनुभूति का नाम है। जिससे मनुष्य सृष्टि के पदार्थों की प्रेरक एक नित्य सामान्य सत्ता की खोज करता है और उसके साथ साथ साक्षात् संसर्ग की अनुभूति प्राप्त करना चाहता है।

(ख) रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति [illegible] जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त [illegible] सम्बन्ध जोड़ना चाहता है, और यह सम्बन्ध यहाँ तक [illegible] दोनों में कुछ अन्तर नहीं रह जाता।

(ग) अतएव हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि [illegible] नगम स्वरूप में एक अलौकिक विज्ञान है, जिसमें [illegible] भावना का प्रादुर्भाव होता है और [illegible] सम्बन्ध के अत्यन्त निकट पहुँचता है। [illegible]

(क) प्रसाद की नाट्य-कला, पृष्ठ संख्या [illegible]

(ख), (ग) कबीर का रहस्यवाद, पृष्ठ संख्या [illegible]

ही नहीं, वरन उस सबंध का रूप धारण कर वह अपनी आत्मा को भूल जाता है।

(घ) रहस्यवाद की परिभाषा करना कठिन है। यह एक प्रकार की दृष्टि है, जिसके द्वारा आध्यात्मिक रहस्य अपने भीतरी अनुभव में जो कि प्रायः भाव-प्रधान होता है, प्रकाशित होते हैं।

(ङ) रहस्यवाद का विषय भी ऐसा ही है, इस विषय पर सब कवि नहीं लिख सकते। स्वय यह विषय ही साधारण कवियों की अनुभूति के बाहर है, और इसलिए जिस कवि ने स्वयं इसका अनुभव नहीं किया, उस का इस विषय पर लिखना साहस ही नहीं, दुस्साहस है। जैसे छोटे छोटे लड़के दर्शन तथा धर्म के गूढ़ सिद्धान्तों को नहीं समझ सकते, उसी प्रकार वह कवि जो दार्शनिक अथवा धार्मिक नही है, रहस्यवाद को नहीं समझ सकता और न रहस्यवाद सम्बन्धी कविता लिखने में ही वह सफल हो सकता है।

प्रसाद जी के रहस्यवाद पर पं० पद्मनारायण आचार्य एम० ए० का मत बहुत ठीक प्रतीत होता है। उन्होंने प्रसाद जी की रचनाओं का पूर्ण अध्ययन किया है, यह इस उद्धरण से ही प्रकट होता है। यहाँ प्रसाद जी के मत को ही उन्होंने अपने शब्दो में रख दिया है।

'प्रसाद के रहस्यवाद नामक निबन्ध का अन्त है कि 'वर्तमान रहस्य-वाद की धारा भारत की निजी सम्पत्ति है'। इसी सिद्धान्त वाक्य का समर्थन करने के लिये उन्होंने अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों की दृष्टि

(घ) छायावाद या रहस्यवाद (श्रीगुलाब राय, एम० ए०; 'विशाल भारत', १६२८)

(ङ) कविता में रहस्यवाद (पं० अवध उपाध्याय, 'सुधा' कार्तिक ३०५ तुलसी संवत्)

से भारतीय परम्परा का इतिहास खींचा है और उसमें दिखाया है कि ऋग्वेद में ही काम और प्रेम की उपासना प्रणाली थी। उस समय से ही आत्मानुभूति और आनदानुभूति का रहस्यवाद देखने को मिलता है। धीरे-धीरे उसका विकास हुआ आगमों के आनन्दवाद और रहस्य संप्रदाय में। इसी की विरासत मिली मध्यकाल के सिद्धों और संतों को। इस प्रकार धीरे-धीरे कालबल से बल खाती हुई यह रहस्यवादी काव्य धारा वर्तमान युग में आ पहुँची है। यों तो एक दूसरे के साथ सम्पर्क में आने पर विचारों का थोड़ा बहुत आदान प्रदान होता ही है। अतः हिन्दी वाले रहस्यवाद में भी कुछ पुट बाहर का हो सकता है, पर उसकी जीवनधारा भारत के आदि काल से चली आ रही है। यह धारा केवल, विचारों में नहीं, प्रतीकों में भी मिलती है। प्रियतम, बहुरिया, पिया की सेज, शून्य महल आदि संतों की ईजाद नहीं, पुराने वैदिक प्रयोगों के अनुवाद हैं। वेदों की अटपटी वाणी, दाम्पत्य भाव का दृष्टान्त और गुह्य बातों को चमत्कार पूर्ण सांकेतिक भाषा में कहना आदि यदि आगमों और बानियों का पूर्ण रूप नहीं तो और क्या है?

इस प्रकार प्रसाद जी ने नये दृष्टिकोण से रहस्यवाद [illegible] प्रतिपादन पूरा न होने से सन्तोष नहीं होता। [illegible] अनुसरण करके खोज और विचार करने से ही उस[illegible] मूल्य आँका जा सकता है।

एक बात और प्रसाद जी ने बड़े जोर से कही है, [illegible] का पहला वाक्य—'काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक [illegible] मुख्य धारा रहस्यवाद है।' यह भी उस मत का [illegible] अनुसार रहस्यवाद काव्य की एक शाखा है। पर [illegible] ठोस प्रमाण एक भी नहीं है। उनके निबंध में इन[illegible] खोजने वाला यदि यत्न करे तो उसे उनके छिपे हुए [illegible] सकते हैं। और रहस्यवाद का प्रतिपादन करने वालों [illegible]

विचारणीय पक्ष है। रहस्यवाद समझने के लिये प्रसाद के चार निबंधों को एक साथ मिलाकर पढ़ना चाहिये; रस, रहस्यवाद, छायावाद और कला, और साथ ही पं० रामचन्द्र शुक्ल का 'काव्य में रहस्यवाद' वाला प्रबन्ध भी सुपरिचित होना चाहिये। यद्यपि इस पक्ष का समर्थन लेखक इस निबंध में नहीं कर सका है तथापि वह अपने काव्य में क्या करता था, यह निश्चित हो जाता है। उसके साहित्य की मुख्य धारा रहस्यवाद है और वह भी है अद्वैतमूलक आनन्दवाद वाली परम्परा की धारा।

प्रसाद के रहस्यवाद को समझने के लिये सब से पहले रसवाद समझना चाहिये, क्योंकि आत्मवाद, अनुभूतिवाद, आनन्दवाद और समाधि वाला साक्षात्कार आदि बातें दोनो में समान रूप से मान्य हैं। दोनों का संबंध शैवागम से है। दोनों ही सहृदय संवेध हैं।

कबीरदास के काव्य में उपरोक्त रहस्यवाद की पूर्ण सामग्री मिलती है। प्रसाद जी ने कबीर के सम्बन्ध में लिखा है—

हिन्दी के उन आदि रहस्यवादियों को, आनन्द के सहज साधकों को बुद्धिवादी निर्गुण संतों को स्थान देना पड़ा। कबीर इस परम्परा के सब से बड़े कवि हैं। कबीर में विवेकवादी राम का अवलम्ब है और सम्भवतः वे भी 'साधो सहज समाधि भली' इत्यादि में सिद्धों की सहज भावना को ही, जो उन्हें आगमवादियों से मिली थी, दोहराते हैं। कवित्व की दृष्टि से भी कबीर पर सिद्धों की कविता की छाया है। उन पर कुछ मुसलमानी प्रभाव भी पड़ा अवश्य, परन्तु शामी पैगम्बरों से अधिक उनके समीप थे वैदिक ऋषि, तीर्थंङ्करनाथ और सिद्ध।

प्रोफेसर रामकुमार वर्मा कबीर का एक पद देकर उनका रहस्यवाद खोलते हैं।

'जल में कुम्भ, कुम्भ में जल, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यह मत कथौ गियानी।'

एक घड़ा जल में तैर रहा है। उस घड़े में थोड़ा पानी भी है। घड़े के भीतर जो पानी है वह घड़े के बाहर के पानी से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं है। किन्तु वह इसलिए अलग है क्योंकि घड़े की पतली चादर उन दोनों अंशों को मिलने नहीं देती, जिस प्रकार माया ब्रह्म के दो स्वरूपों को अलग रखती है। कुम्भ के फूटने पर पानी के दोनों भाग मिलकर एक हो जाते हैं, उसी प्रकार माया के आवरण के हटने पर आत्मा और परमात्मा का संयोग हो जाता है। यही अद्वैतवाद कबीर के रहस्यवाद का आधार है। *

कबीर के बाद श्री० रविन्द्रनाथ ठाकुर का स्थान आता है। भारतीय रहस्यवाद की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने वर्तमान साहित्य में एक नई धारा बहाई है। कबीर की रचनाओं का उन पर भी काफी प्रभाव पड़ा है।

रवि बाबू कहते हैं—

सौन्दर्य से, प्रेम से, मंगल से पाप को एक दम समूल नष्ट कर देना ही हमारी आध्यात्मिक प्रकृति की एक मात्र आकांक्षा है...उन्नत साहित्य अन्तरात्मा के आन्तरिक पथ का अवलम्बन करना चाहते हैं। ऐसे साहित्य स्वभाव निःसृत अश्रुजल से कलंक मोचन करते हैं, आन्तरिक घृणा से पाप को दग्ध करते हैं और स्वाभाविक आनन्द से पुण्य का स्वागत करते हैं। †

प्रसाद के सम्बन्ध में शिलीमुख लिखते हैं—प्रसाद [illegible] के रहस्यवाद का प्रश्न उठाने की आवश्यकता न पड़ती यदि [illegible] प्रसिद्धि न होती कि वह आधुनिक रहस्यवाद के [illegible] हैं।

जो लोग प्रसाद के रहस्यवाद के बारे में मतभेद रखते हैं उन्हें प्रसाद के तर्कों द्वारा अपनी शंका का समाधान करना चाहिये।

---

* कबीर का रहस्यवाद। † [illegible]।

अतएव मैं यहाँ रहस्यवाद के सम्बन्ध में प्रसाद का निजी मत उन्हीं के शब्दों में रख रहा हूँ:—

भारतीय विचारधारा में रहस्यवाद को स्थान न देने का एक मुख्य कारण है। ऐसे आलोचकों के मन में एक तरह की झुँझलाहट है। रहस्यवाद के आनन्द पथ को उनके कल्पित भारतीयोचित विवेक में सम्मिलित कर लेने से आदर्शवाद का ढाँचा ढीला पड़ जाता है। इसलिए वे इस बात को स्वीकार करने में डरते हैं कि जीवन में यथार्थ वस्तु आनन्द है, ज्ञान से वा अज्ञान से मनुष्य उसी की खोज में लगा है। आदर्शवाद ने विवेक के नाम पर आनन्द और उस पथ के लिए जो जनरव फैलाया है, वही उसे अपनी वस्तु कह कर स्वीकार करने में बाधक है। किन्तु प्राचीन आर्य लोग सदैव से अपने क्रियाकलाप में आनन्द, उल्लास और प्रमोद के उपासक रहे, और आज के भी अन्यदेशीय तरुण आर्यसंघ आनन्द के मूल संस्कार से संस्कृत और दीक्षित हैं। आनन्द-भावना, प्रियकल्पना और प्रमोद हमारी व्यवहार्य वस्तु थी। आज की जातिगत निर्वीर्यता के कारण उसे ग्रहण न कर सकने पर, यह सेमेटिक है कह कर सन्तोष कर लिया जाता है।

बृहदारण्यक श्रुति अनुकरण करके समता के आधार पर भक्ति की और मित्र प्रणय की सी मधुर कल्पना भी की। क्षेमराज ने एक प्राचीन उद्धरण दिया—

जब स्त्री और पुरुष दोनों ही एक प्रकार का आनन्द अनुभव करते हुए भिन्न होने पर भी एकता समता का आनन्द प्राप्त करते हैं अर्थात् दोनों एक होकर काम सुख का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा दोनों भिन्न-भिन्न होते हुए जब समान सुख का अनुभव करने लगते हैं तब द्वैत भी अद्वैत के समान अमृत मालूम होता है।

यह भक्ति का आरम्भिक स्वरूप आगमों में अद्वैत की भूमिका पर ही सुगठित हुआ······

इन आगम के अनुयायी सिद्धों ने प्राचीन आनन्द मार्ग को छोड़ने की प्रतिष्ठा के साथ अपनी साधना पद्धति में प्रचलित रखा और इसे वे रहस्य सम्प्रदाय कहते थे……

रहस्य सम्प्रदाय अद्वैतवादी था। इन लोगों ने पाशुपत योग की प्राचीन साधन पद्धति के साथ-साथ आनन्द की योजना करने के लिये काम-उपासना प्रणाली भी दृष्टान्त के रूप में स्वीकृत की। उसके लिये भी श्रुति का आधार लिया गया।

'तद्यथा प्रियया स्त्रीया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेदनान्तरन्' (बृहदारण्यक)

जैसे परम प्यारी स्त्री के साथ आनन्द मे लिपटा हुआ पुरुष बाहर भीतरी किसी प्रकार का कुछ भी ज्ञान नही रखता उसी प्रकार इस में लीन योगी।

इस दार्शनिक सत्य को व्यावहारिक रूप देने में किसी विशेष [illegible] की आवश्यकता न थी। संसार को मिथ्या मानकर असम्भव कल्पना के पीछे भटकना नहीं पड़ता था। दुःखवाद से उत्पन्न संन्यास और संसार से विराग की आवश्यकता न थी। अद्वैत मूलक रहस्यवाद के व्यावहारिक रूप में विश्व को आत्मा का अभिन्न अंग शैवागमों में मान लिया गया था। फिर तो सहज आनन्द की कल्पना भी इन लोगों ने की।

शैवों का अद्वैतवाद और उनका सामरस्य वाला रहस्य सम्प्रदाय, वैष्णवों का माधुर्य भाव और उनके प्रेम का रहस्य तथा कामकला की सौन्दर्य उपासना आदि का उद्गम वेदों और उपनिषदों के [illegible] वे साधन प्रणालियाँ है, जिनका उन्होंने समय पर [illegible] प्रचार किया था।

अंत में प्रसाद जी रहस्यवाद का विवरण ([illegible]) इस प्रकार देते हैं—

वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैतरहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यञ्जना होने लगी है, वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदम् से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बनकर इसमें सम्मिलित है।

प्रसाद के कुछ आलोचक उनकी रचनाओं में निराशावाद का दोष देते हैं। बाबू श्यामसुन्दरदास लिखते हैं—

दूसरी बात जो उनकी कृतियों में खटकने वाली है वह उनका सांसारिक बातों में एक पक्षिय ध्येय है। सांसारिक जीवन में सब कुछ कलुषित और गर्हित नहीं, उसका एक अंश उज्ज्वल और प्रशंसनीय भी है। प्रसाद जी की रुचि पहले पक्ष की ओर अधिक दीख पड़ती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह टिप्पणी 'कंकाल' पढ़कर लिखी गई है। जिन लोगों ने तितली का उज्ज्वल पक्ष देखा है वे समझते हैं कि प्रसाद जी किस तरह जीवन के कृष्ण और शुक्ल पक्ष को देखते थे।

प्रसाद के भाग्यवाद, निराशावाद और नियतिवाद के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। प्रसाद के आरम्भिक जीवन पर दृष्टि डालने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वह इतने धीर और गम्भीर पुरुष थे कि वह अपना दुख किसी के सामने प्रकट नहीं करना चाहते थे। उनका यह विरह युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बनकर प्रस्तुत है। प्रसाद के सम्बन्ध में जितने वाद प्रचलित हो गये हैं, उन सब का अपने आप निराकरण हो सकता है। यदि प्रसाद का आनन्दवाद अथवा रसवाद समझ लिया जाय। वास्तव में यही आनन्दवाद ही उनका रहस्यवाद है, काव्य का वाद है।

———

काव्य

हिंदी काव्य की धाराएँ तीन स्कूलों में विभाजित हैं। पहला ब्रजभाषा का प्राचीन स्कूल, जिसके अंतिम प्रतिनिधि पं० नाथूराम शंकर शर्मा और रत्नाकर जी थे। दूसरा द्विवेदीजी के युग से चला हुआ खड़ी बोली का वह स्कूल जिसमें भाव तथा छंद पुराने ही रहे; किंतु खड़ी बोली का आवरण धारण कर नवीनता का पथ प्रदर्शक बना। तीसरा स्कूल छायावादी कविता का समझा जाता है। इस स्कूल के जन्मदाता प्रसादजी ही माने जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि पंत, निराला, महादेवी वर्मा और रामकुमार वर्मा की कविताओं ने इस स्कूल को अधिक शक्तिशाली बना दिया है।

काव्य के इस तीसरे स्कूल को अनेकों आलोचनाएँ, व्यंग और विरोधों का सामना करना पड़ता है। इसका प्रमुख कारण यही था कि भाव और भापा दोनों ही क्लिष्टता का रूप धारण कर उपस्थित हुए थे। अतएव सर्वसाधारण के उपयुक्त काव्य की परिभापा में इनके लिए स्थान देना कठिन हो गया था। इस स्कूल के प्रथम कवि के नाते प्रसादजी को ही विशेष रूप से विरोधों का सामना करना पड़ा था।

प्रसाद की जीवनी में मैं लिख चुका हूँ कि प्रारम्भ में वे ब्रजभापा में ही कविता लिखते थे। उनकी प्रारम्भिक कविताएँ चित्राधार में संगृहीत हैं। चित्राधार का पहला संस्करण समाप्त हो चुका था। दूसरा संस्करण वह प्रकाशित नहीं कराना चाहते थे।

उन्होंने कहा—अब इस संग्रह को क्या आवश्यकता है

मैंने कहा—आरम्भिक रचनाओं से लेखक के क्रम-विकास का अध्ययन करने में सुविधा रहती है।

अन्त में मेरे आग्रह पर ही चित्राधार के दूसरे संस्करण को प्रकाशित करने की अनुमति दी।

रचना-क्रम के अनुसार प्रसाद के काव्य की सूची इस तरह है—१—चित्राधार, २—कानन कुसुम, ३—महाराणा का महत्व, ४—प्रेमपथिक, ५—झरना, ६—आँसू, ७—लहर, ८—कामायनी।

चित्राधार में तीन बड़ी कविताएँ, अयोध्या का उद्धार, वन-मिलन और प्रेमराज्य, प्राचीन कथानक के आधार पर रचित हैं। पराग में २४ फुटकर कविताएँ हैं। इनके अतिरिक्त मकरन्द बिन्दु में समस्यापूर्ति के ढंग के कवित्त हैं।

प्रसाद के काव्य की समीक्षा करने में सभी आलोचक उनकी ब्रजभाषा की कविताओं से विमुख ही रहे हैं। अतएव मैं यहाँ उनकी उन रचनाओं के उद्धरण उपस्थित कर रहा हूँ।

इस ब्रजभाषा के काव्य के आरम्भिक क्रम विकास में रहस्यवादी कवि के अस्तित्व का पता किसे लग सकता है? यह भी रहस्यवाद की भाँति रहस्यमय है।

कौन भ्रम भूलि कै भ्रमत चलि जात किते,
बितै जनि देहु रजनी को, चित धारिये।
कबते तिहारी आस लाय एक टक यह,
रूप सुधा प्यासी तासु प्यास निरवारिये॥
राखै परवाह ना सराह की तिहारी सौंहँ,
लखत 'प्रसाद' कौन प्रेम अनुसारिये।
चित्त चैन चाहत है, चाह में भरी है, चेति,
चैत चन्द नेक तो चकोरी को निहारिये॥

चैत चन्द और चकोरी का प्रेम प्रसिद्ध बात है। परंपरा के अनुसार ही कवि ने अन्योक्ति के द्वारा प्रेमी हृदय की पुकार सुनाई है। उसमें भक्तों वाली रहस्यभावना भी है कि यह मानव हृदय उस 'परम सुन्दर' का निष्काम उपासक है। चकोरी कहती है— यह चकोरी का हृदय 'सराह की परवाह' नहीं रखता, न जाने कौन-सा प्रसाद वह चाहता, उसका प्रेम तो देखिये। यह चाह में भरा है, आप केवल एक बार इसे देख लीजिये। बस और कुछ नहीं।

चकोरी के हृदय में ही कवि का हृदय है। उसका नाता शुद्ध प्रेम का है। यहाँ यही बात ध्यान देने की है कि यद्यपि अभिव्यक्ति का ढाँचा बिल्कुल पुराना है तो भी उसमें कवि की रुचि और प्रवृत्ति की एक झलक है। कवि का ध्यान उस एकान्त और अनन्य भावना की ओर है।

आवै इठलात जलजात-पात को सो बिन्दु,
कैधौं खुली सीपी माँहिं मुकता दरस है।
कढ़ी कंज-कोश ते कलोलिनी के सीकर-सों,
प्रात-हिमकन-सों, न-सीतल परस है॥
देखे दुख दूनों उमगत अति आनँद सों,
जान्यों नहिं जाय यहि, कौन-सो हरस है!
तातो तातो कढ़ि रूखे-मन को हरित करै,
ऐरे मेरे आँसू! तैं पियूष तें सरस है।

इस दूसरे कवित्त में कवि की दूसरी विशेषता है। वह है अनुभूति की गहराई नापना। प्रसाद की दो ही तो विशेषताएँ हैं— एक विश्व में उस एक परम हृदय को देखना और अपने इस छोटे जीवन में अपने बड़े हृदय की थाह लगाना। एक का नाम रहस्य भावना है और दूसरे का नाम है रसानुभूति। दोनों में कोई विरोध नहीं है।

दोनों का साथ भी हो सकता है और प्रायः होता है, पर दोनों में प्रवृत्ति का भेद है। दूसरी प्रवृत्ति के बिना तो कोई कवि हो ही नहीं सकता। वही हृदयानुभूति इस कवित्त का प्राण है। मनुष्य को यह एक विचित्र अनुभव होता है कि आँसू से जी हलका हो जाता है, मन को बड़ी शान्ति मिलती है, दुःख की झुलस मिट जाती है, जीवन हरा भरा हो जाता है। मनुष्य दुःख से रोया था, पर अब उसे यह आँसू का नया अनुभव हुआ। वह इतना प्रसन्न और चमत्कृत होता है कि अनेक प्रकार से उसे प्रकट करना चाहता है। इस आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति से उसे सुख मिलता है और इसी से ऐसी कृति दूसरे सहृदय व्यक्ति को भी सुख देती है।

इस कवित्त में वह दुख देने वाला गुण है। इसी से तो हम उसे प्रसाद के अमर गीतों और मुक्तकों का बीज मानते है। कवि की कला और बुद्धि का विकास देखनेवालो को तो यह बड़ा प्रिय लगता ही है, स्वयं कवि को भी यह भोले और सरल बचपन के समान बड़ा प्रिय था। वे इसे अनेक बार अपनी मंडली में पढ़ चुके हैं।

इस कवित्त में अनुभूति का गांभीर्य और आनन्द तो है ही, अभिव्यक्ति की भी एक नूतनता है। पुराने ढंग के रीतिवादी कवि जब एक भाव बाँधते हैं तो उसका पूरा रूप खड़ा कर देते हैं। यहाँ 'पीयूष ते सरस' कहने के लिये वे पियूष के अधिक से अधिक गुण और लक्षण घटाने की कोशिश करते, पर छायावादी और ध्वनिवादी थोड़ा कह कर बहुत समझाना चाहते हैं। यह व्यंजना की शैली इसमें है। समझ वार को 'व्यतिरेक का चमत्कार' समझना चाहिए। इसी प्रकार व्यतिरेक, विरोधाभास आदि अलंकार भी रीति का चमत्कार दिखाने के लिये नहीं, भाव की छाया मनोरम बनाने के लिये आए हैं। इस प्रकार यद्यपि छन्द, भाषा, अलंकार सरणि आदि में पुरानापन है तो भी उनमें कवि की नूतनता छिपी है।

प्रेम की प्रतीति उर उपजी सुखाई सुख
जानियो न भूलि याहि छलना अनङ्ग की।
खैंचि मन मोहन ते काट-पेंच कौन करै
चली अब ढीली बाढ़ प्रेम के पतंग की॥
मूँदे हम खोलैं किन छाई छबि एक तैसी
प्यासी भरी आँखें रूप सुधा के तरंग की।
उन तै रह्यो न भेद बिछुरे मिलें में
भई, बिछुरनि मीन की औ मिलनि पतंग की॥

तीसरा कवित्त तीसरे ढंग का है। इसमें अनुभूति है। पर वह समस्यापूर्ति वाली है। समस्यापूर्ति चौंसठ कलाओं में से एक कला है और इसका पूर्ण अभ्यास हो जाने पर ही मनुष्य जीवन की समस्याओं पर कुछ कहने योग्य होता है। प्रसाद जी ने इस ढंग को भी अपनाया था। इससे भी बड़ी बात यह है कि यहाँ प्रसाद जी ने वही बात दूसरे ढंग से कही है जो आगे चलकर उनका मूल मंत्र सी बन जाती है—वह है संयोग और वियोग में एक प्रेमयोग—सुख और दुःख दोनों में एक आनन्द की भावना। जब 'प्रेम की प्रतीति' उत्पन्न हो जाती है तब 'बिछुरे मिले में' भेद नहीं रह जाता। पर यह प्रेम 'अनंग की छलना' न होना चाहिये।

'चित्राधार' की अधिकांश कविताएं प्रकृति और सौन्दर्य वर्णन के आधार पर रचित हैं। यौवन का उलहना इन पंक्तियों में दिखलाई पड़ता है—

कवि के सिद्धान्त का उद्‌गम भी इन दोनों पदों में मिलता है। 'करत, सुनत, फल देत, लेत सब तुमहीं, यही प्रतीत' यही आरम्भिक विश्वास आगे चलकर प्रसाद की समस्त रचनाओं का सूत्र बनता है। 'विधाता के विधान में अटल विश्वास और नियति के चक्र में किसी का वश नहीं चल सकता।' यही सिद्धांत सर्वत्र व्याप्त है।

ब्रह्म में आस्था रखते हुए भी भावुकता उलहना देती है—ऐसे ब्रह्म को लेकर क्या करेंगे जो कुछ नहीं सुनता और जो दूसरों का दुख नहीं हरता।

ऐसे ब्रह्म लेइ का करि हैं ?
जो नहीं करत, सुनत नहीं जो कछु, जो जन पीर न हरिहैं ॥
होय जो ऐसो ध्यान तुम्हारो ताहि दिखाओ मुनि को।
हमरी मति तो, इन झगड़न को समुझि सकत नहीं तनिको ॥
परम स्वारथी तिनको अपनो आनँद रूप दिखाओ।
उनको दुख, अपनो आश्वासन; मनते सुनो सुनाओ ॥
करत, सुनत, फल देत, लेत सब तुमहीं, यही प्रतीत ?
बढ़ै हमारे हृदय सदाही, देहु चरण में प्रीत ॥

यह सब झगड़ा समझने में हम असमर्थ हैं; लेकिन यह जानते है कि इन सब के कर्त्ता-धर्त्ता तुम्हीं हो। इसलिये परम स्वार्थियों को भी अपना आनन्दमय रूप दिखाओ और अपने चरणों में प्रीति दो।

दूसरे पद में कवि के दार्शनिक मत का आभास मिलता है। युवावस्था में कुछ न समझते हुए भी उस अलौकिक सत्य का रूप प्रकट होता है। कवि की जिज्ञासा जागृत होती है।

छिपि के झगड़ा क्यों फैलायो ?
मन्दिर मसजिद गिरजा सब में खोजत सब भरमायो ॥
अम्बर अवनि अनिल अनलादिक कौन भूमि नहीं भायो।
कढ़ि पाहन हूँ ते पुकार बस सबसों भेद छिपायो ॥

कूवाँ ही से प्यास बुझत जो, सागर खोजन जावै—
ऐसो को है याते सब ही निज निज मति गुन गावैं ॥
लीलामय सब ठौर अहौ तुम, हमको यहै प्रतीत।
अहो प्राणधन, मीत हमारे, देहु चरण में प्रीत ॥

छिप कर यह झगड़ा क्यों फैलाया है । मन्दिर, मसजिद और गिरजा में तुम्हें सब लोग खोजते हैं और सब को तुमने भरमा लिया है । कितने अच्छे ढंग से यह सत्य उपस्थित किया गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर के सिद्धांत का आरम्भ में ही प्रसाद जी पर प्रभाव पड़ा; किन्तु 'देहु चरण में प्रीत' यह आगे चल कर लुप्त हो जाता है और फिर कभी कवि 'चरण में प्रीत' के लिए वन्दना नहीं करता और उस दिव्य आलोक को प्राप्त करते हुए अपनी सीमा निर्धारित कर लेता है । उसकी आत्मा बोल उठती है—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ (कठ० १।२।२१)

भावार्थ – जो सब के पास रह कर भी दूर चला जाता है अर्थात् सर्वत्र व्याप्त है और जो सोता हुआ भी सब ओर जाता है अर्थात् निष्क्रिय होकर भी सर्वत्र व्यापक है उस मद रहित होकर भी मद-युक्त देव आनन्दमय ब्रह्म को मेरे सिवाय कौन जान सकता है ?

और उसे जान लेने के बाद—

हृदय नहिं मेरा शान्त रहे ।

जब प्रेम का अवलम्ब मिल जाता है तब भेद-भाव नहीं रह जाता। उल्टे भेद-भाव सम्मुख आने पर तो प्रेमी एक अनोखा उलहना देता है—

प्रियतम वे सब भाव तुम्हारे क्या हुए।
प्रेम-कंज-किंजल्क शुष्क कैसे हुए॥
हम! तुम! इतना अन्तर क्यों कैसे हुआ।
हा-हा प्राण-अधार शत्रु कैसे हुआ॥
कहें मर्म-वेदना दूसरे से अहो—
'जाकर उससे दुःख-कथा मेरी कहो॥'
नहीं कहेंगे, कोप सहेंगे धीर हो।
दर्द न समझो, क्या इतने बे पीर हो॥
चुप रह कर कह दूँगा मैं सारी कथा।
बीती है, हे प्राण! नई जितनी व्यथा॥
मेरा चुप रहना बुलवावेगा तुम्हें॥
मैं न कहूँगा, वह समझावेगा तुम्हें॥
जितना चाहो, शान्त बनो, गम्भीर हो।
खुल न पड़ो, तब जानेंगे, तुम धीर हो॥
रूखे ही तुम रहो, बूँद रस के झरें।
हम-तुम जब हैं एक, लोक बकतें फिरें॥

पर वह उलहना देकर, दूसरे से कह कर उसका एकान्त रस खोना नहीं चाहता। चाहे उसके लिये कितना ही दुख क्यों न उठाना पड़े। वह प्रेमी तक ही सीमित है और सो भी 'चुप रहकर'। साथ ही लोगों के बकते फिरने का भी भय नहीं है। क्योंकि हम तुम एक जो ठहरे!

प्रारंभ से ही कवि की प्रेममूर्ति कितनी दृढ़ है! इस स्वर में आध्यात्मिकता है, सूफियों जैसी साधना है। कवि की अभेदानुभूति और

यहाँ से हिन्दी काव्य जगत में रहस्यवाद और नवीनता की धारा बहती है। भावों में भी, छन्दों में भी।

द्विवेदी जी ने जिस खड़ी बोली के पद्य का रूप बनाया था, उसी खड़ी बोली के काव्य की सीमा के भीतर ही मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय आदि चल रहे थे। मैथिलीशरण जी की भारत-भारती के हरिगीतिका छन्द का प्रचार बढ़ रहा था। उस समय हिन्दी पद्य साहित्य में अपने छन्दों के कारण मैथिलीशरण जी अधिक विख्यात हुए थे।

कवि प्रसाद अटल तपस्वी की तरह निःस्वार्थ और निर्भय आत्मा के बल पर नवीन छन्दों और नवीन भावों को काव्य-जगत में गुनगुनाने लगे थे।

आरम्भ में अधिक ख्याति न होने पर भी प्रसाद की दृढ़ता भंग न हुई। जब पद्य साहित्य प्रौढ़ता का रूप धारण करने लगा, तब वह नवीनता के जन्मदाता समझे गये।

१९१३ ई० में प्रसाद जी का करुणालय नामक एक गीति रूपक इन्दु में प्रकाशित हुआ था। भिन्न तुकान्त कविता से और वह आकर्षित हुए। 'महाराणा का महत्व' और 'प्रेम पथिक' उनके उदाहरण हैं।

'परिमल' की भूमिका में 'निराला' जी ने लिखा है 'कविता कौमुदी मे पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने जैसा लिखा है, भिन्न तुकान्त (B nk verse) का श्रीगणेश पहले-पहल हिन्दी में प्रसिद्ध कवि बाबू जयशंकर 'प्रसाद' जी ने किया है। उनका ... इक्कीस मात्राओं का है। पण्डित रूपनारायण जी पाण्डेय ने ... छन्द का उपयोग (शायद अपने अनुवाद में) बहुत ... किया है। पाण्डेय जी से इस छन्द के सम्बन्ध में ... पर, ...

उत्तर दिया, उससे इस विषय का फैसला न हुआ कि इस छन्द के प्रथम लिखने वाले 'प्रसाद' जी हैं या वे।'

'महाराणा का महत्व' की प्रकाशकीय भूमिका से इस विवाद-ग्रस्त विषय पर प्रकाश पड़ता है! 'यह देखकर और भी हर्ष होता है कि पण्डित रूपनारायण पाण्डेय जैसे साहित्यिक ने हाल ही मे 'तारा' नामक गीति रूपक का इसी छन्द में अनुवाद करके उक्त मत की पुष्टी की है।'

प्रसाद जी ने इस भिन्न तुकान्त कविता के लिये इक्कीस मात्रा का अरिल्ल छन्द हेर फेर के साथ अधिक पसन्द किया। १६१४ ई० में 'महाराणा का महत्व' छपा था। इसमें नवीन छन्द और भाषा का प्रवाह दिखलाई पड़ता है—

पूर्ण प्रकृति की पूर्ण नीति है क्या भली,
अवनति को जो सहन करे गंभीर हो
धूल सदृश भी नीच चढ़े सिर तो नहीं
जो होता उद्विग्न, उसे ही समय में
उस रज-कण को शीतल करने का अहो
मिलता बल है, छाया भी देता वही।
निज पराग को मिश्रित कर उनमें कभी।
कर देता है उन्हें सुगन्धित, मृदुल भी।

* * *

गुथीं बिजलियाँ दो मानो रण-व्योम मे
वर्षा होने लगी रक्त के बिन्दु की,
युगल द्वितीया चन्द्र उदित अथवा हुए
धूलि-पटल को जलद-जाल सा काट के

प्रसाद जी ने 'प्रेम पथिक' को सम्वत् १६६२ के लगभग व्रज-भाषा में लिखा था। आठ वर्ष बाद उसके कथानक में कुछ

परिवर्तन कर के कवि ने अतुकान्त छन्दों में उसे उपस्थित किया। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी सभी आरम्भिक रचनाओं में 'प्रेम पथिक' को अधिक महत्व मिला है।

'प्रेम पथिक' सात्विक प्रेम का चित्रण करने वाला काव्य है।

पथिक ! प्रेम की राह अनोखी भूल-भूल कर चलना है
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए,
प्रेम यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा
तब तुम प्रियतम स्वर्ग-विहारी होने का फल पाओगे:
इसका निर्मल विधु नीलाम्बर-मध्य किया करता-[illegible]
चपला जिसको देख चमक कर छिप जाती है घन-पट में।
प्रेम पवित्र पदार्थ, न इसमें कहीं कपट की छाया हो,
इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्ति मात्र में बना रहे
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है जहाँ कि सबको समता है।
इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत-भवन में टिक रहना
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं
अथवा उस आनन्द-भूमि में जिसकी सीमा कहीं नहीं
यह जो केवल रूप जन्य है मोह, न उसका स्पर्श है
यही व्यक्तिगत होता है, पर प्रेम उदार, अनन्त रहे
उसमें इसमें शैल और सरिता का सा कुछ अन्तर है।
प्रेम, जगत का चालक है, इसके आकर्षण में खिंच के
मिट्टी वा जल पिण्ड सभी दिन रात किया करते फेरा
इसकी गर्मी मरु, धरणी, गिरि, सिन्धु, सभी निज अन्तर में
रखते हैं आनन्द सहित, है इसका अमित प्रभाव महा
इसके बल से तरुवर पतझड़ का [illegible]
इसका है सिद्धान्त—मिटा देना अस्तित्व सभी अपना
प्रियतम-मय यह विश्व निरखना फिर उसको है [illegible]

फिर तो वही रहा मन में, नयनों में, प्रत्युत जगभर में,
कहाँ रहा तब द्वेष किसी से क्योंकि विश्व ही प्रियतम है;
हो जब ऐसा वियोग तो संयोग वही हो जाता है।
यह सज्ञायें उड़ जाती हैं, सत्य तत्त्व रह जाता है।

जिस प्रेम तत्त्व का उल्लेख हम पीछे के उद्धृत पद्यों में कर चुके हैं उसी सत्य तत्त्व की सविस्तर व्याख्या इस प्रेम-पथिक में है। उनका दार्शनिक दृष्टिकोण यहाँ निश्चित् हो जाता है।

'झरना' की कविताओं का संग्रह देखने से प्रतीत होता है कि कवि के भाव, भाषा और शैली में पर्याप्त विकास हुआ है। 'झरना' में कवि के रहस्यवादी स्वर का गान स्पष्ट सुनाई पड़ता है।

आँख बचाकर न किरकिरा कर दो इस जीवन का मेला।
कहाँ मिलोगे ? किसी विजन में ? न हो भीड़ का जब रेला॥
दूर ? कहाँ तक दूर ? थका भरपूर चूर सब अंग हुआ।
दुर्गम पथ में विरथ दौड़कर खेल न था मैंने खेला॥
कहते हो 'कुछ दुःख नहीं' हाँ ठीक, हँसी से पूछो तुम।
प्रश्न करो टेढ़ी चितवन से, किस-किस को किसने झेला॥
आने दो मीठी मीड़ो से नूपुर की झनकार रहो।
गलबाहीं दे हाथ बढ़ाओ, कह दो प्याला भर दे, ला॥
निठुर इन्हीं चरणों मे मैं रत्नाकर हृदय उलीच रहा।
पुलकित, प्लावित रहो, बनो मत सूखी बालू की बेला॥

* * * *

कौन, प्रकृति के करुण काव्य-सा; वृक्ष पत्र की मधुछाया में।
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है, अमृत सदृश नश्वर काया में॥
अखिल विश्व के कोलाहल से दूर सुदूर निभृत निर्जन में।
गोधूली के मलिनाञ्चल में, कौन जंगली बैठा बन में॥

शिथिल पड़ी प्रत्यञ्चा किसकी, धनुष भग्न सब छिन्न जाल है।
वंशी नीरव पड़ी धूल में, वीणा का भी बुरा हाल है॥
किसके तममय अन्तरतम में, झिल्ली की झनकार हो रही।
स्मृति सन्नाटे से भर जाती, चपला ले विश्राम सो रही॥
किसके अन्तःकरण अजिर में, अखिल व्योम का लेकर मोती।
आँसू का बादल बन जाता, फिर तुषार की वर्षा होती।
विषय शून्य किसकी चितवन है, ठहरी पलक अलक में आलस।
किसका यह सूखा सुहाग है, छिना हुआ किसका सारा रस॥
निर्झर कौन बहुत बल खाकर, बिलखाता ठुकराता फिरता।
खोज रहा है स्थान धरा में, अपने ही चरणों में गिरता॥
किसी हृदय का यह विषाद है, छेड़ो मत यह सुख का कण है।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का विश्रान्त चरण है॥

चन्द्रगुप्त नाटक के अन्त में आता है—'दो बालुका पूर्ण कगारों के बीच में एक निर्मल स्रोतस्विनी का रहना आवश्यक है।' यही प्रसाद का जीवन रहस्य है, प्रेम दर्शन है। जिस प्रकार जल न रहने पर दोनों ओर सूखी बालू की बेला रह जाती है उसी प्रकार से मनुष्यों के बीच यदि प्रेम की नदी नहीं बहती तो वे [illegible] के समान हैं—मिट्टी के पुतले भर हैं।

यहाँ इस कविता में 'बालू की बेला' का अर्थ है [illegible]
कवि ने अपने रहस्यवादी ढंग से अपने प्रेमी को [illegible]
कि वह आँख बचा कर भागा करता है और [illegible]
हीन है। पर साथ ही यह भी कह दिया है कि मैं तुम्हारी [illegible]
करता। मेरा प्रेम सापेक्ष नहीं है। मेरा हृदय तो [illegible]
उसके रस से तुम्हें भी नहलाया करता है। [illegible]
पुलकित और प्लावित रहो। बस।

सच्चे रहस्यवादी की एक बड़ी विशेषता है कि [illegible]

मेले को बुरा नहीं कहता। वह मेले में मिलन का सुख लूटता है—(कम से कम) लूटने का यत्न अवश्य करता है। जीवन का रस लेने वाला प्रत्येक आदमी यही करता है। केवल साधक एकान्त में कुछ सिद्ध करना चाहता है। इसी से तो कवि कहता है कि मैं वह एकान्त साधना वाला मिलन नहीं चाहता। मैं चाहता हूँ, तुम इस जीवन की भीड़भाड़ मे ही मिलो। देखो यदि तुम आँख बचाकर भागोगे तो इस जीवन रूपी मेले का मजा ही किरकिरा हो जायगा।

अब यदि देखा जाय तो इस कविता मे रहस्यवाद की सभी मुख्य बातें आ गई हैं। रहस्यवादी का सब से पहला लक्षण है आत्मानुभूति का स्वर। वह इसमें है। यही स्वर यहाँ तक बढ़ जाता है कि वह समाधि की कोटि वाले अनुभव तक पहुँच जाता है। दूसरी बात होती है संसार भर में एक परम हृदय को देखना और उसके चरणों में अपना सर्वस्व सौंपना। तीसरी बात है साधना और बुद्धि को अयोग्य पाकर हृदय के सहारे आगे बढ़ना, और चौथी विशेषता है मानव-जीवन को सुंदर समझना, संसार के सुख-दुःख दोनो को चाँदनी और अँधेरी के समान अपनाना इस बड़े मेला का आनन्द लेना। इसी जीवनानन्द की खोज में शृङ्गार और करुणा दोनों का क्रम चला करता है। इसी से रहस्यवादी का पाँचवाँ लक्षण और सब से अधिक सुनाई पड़ने वाला लक्षण है, उसका संगीत। वह कभी संयोग का गीत सुनाता है और कभी विरह का करुण क्रन्दन करता है।

ये सभी बाते इसमें आ गई हैं। इसमें प्रणय की प्रार्थना है। इसी से करुण राग नहीं है। करुणा वाली बात दूसरी कविता में अच्छे ढंग से आई है। कवि कहता है कि यह किसी हृदय का विषाद है, इसे छेड़ो मत यही उस हृदय के लिए सुख का कण है; विषाद में ही सुख है इसे अनुभवी लोग जानते हैं। देखो इसे तंग कर के भगाओ मत। यह करुणा का थका हुआ पैर है। जिस उपचार की सुकुमारता

से चतुर स्नेही किसी दुःखी और थके हुए के पैर की सेवा करता है, उसी सावधानी से इस हार्दिक विषाद को भी शान्त करने की कोशिश करो। बड़ा सुख मिलेगा। अलौकिक आनन्द।

'विषाद' का वर्णन करने के लिए कवि ने विषाद में भरे मनुष्य का सजीव चित्र खींचा है और यह 'कौन' वाली शैली तो रहस्यवाद की बड़ी पुरानी और प्रिय शैली है। ऋग्वेद में है, भवभूति में है, कबीर में है, पश्चिमी में है और प्रसाद की बाद वाली रचनाओं में है। यहां एक बात और ध्यान देने की है कि 'आँसू' कवि को बहुत प्रिय है। प्रारम्भ में हम आँसू का वर्णन पढ़ चुके हैं। आँसू का उल्लेख यहां भी है और आगे चलकर तो आँसू पर कोप काव्य ही हम पढ़ेंगे। अतः आँसू का तत्त्व कवि की बुद्धि और कला के अध्ययन में बड़े महत्त्व का है। 'आँसू' रस का अनुभाव है। जिस स्थायी भाव की अनुभूति होने से रस मिला उसीका अनुचर भाव है आंसू। वह रसानंद तो चला गया उसकी स्मृति है, उसका अनुभाव बाद है। कवि उसी की बार-बार घुमा फिराकर चर्चा करता है, उनमें एक राम-कहानी कहने लगता है और कथा के अन्त में आंसू को ही पुकार कर कहता है—

सबका निचोड़ लेकर तुम
सुख से सूखे जीवन में।
बरसो प्रभात हिमकन सा
आँसू इस विश्व सदन में।

जैसे प्रभात के हिमकणों में जीवन द्रव रहता है, मानव-जीवन का सुख सौन्दर्य और स्वास्थ्य रहता है, उसी प्रकार आंसू में सूखे जीवन को हरा-भरा करने की शक्ति रहती है। यह रसायन है। सब का निचोड़ लेकर जो बना है। हृदय का सब कुछ इसी में तो है।

यह आँसू काव्य का अन्तिम पद्य है। यदि आरम्भ से अन्त तक के पद्यों को क्रम से पढ़ा जाय तो आँसू की पूरी कथा तैयार हो जाती है। यद्यपि सभी पद्य मुक्तक हैं तथापि उनका क्रम बन्ध उनके प्रबन्धार्थ की ओर संकेत करता है। यह १६० पद्यों का कोष नहीं, खण्ड काव्य है; इसमें आदि और अन्त की व्यवस्था है, आँसू के सर्ग-प्रलय की कथा है, मानव-हृदय के चढ़ाव-उतार की एक झाँकी है।

दो तीन बाते ध्यान में रखकर चलने से प्रसाद की भाषा और विचारधारा दोनों सुलझी हुई दिखाई पड़ेगी। इसी से उस झाँकी का पूरा दर्शन करने के लिए प्रसाद के प्रतीकों पर सब से पहले ध्यान रखना चाहिए। अभी पीछे झरना की जो कविताएँ समझने में बालू को बेला और विषाद का अर्थ स्नेह हीन नीरस व्यक्ति और करुण काव्य सा विषादयुक्त हृदय कर चुके हैं। इस प्रकार के उपचार और अलंकार तो सामान्य बातें हैं; कवि ने सागर, पृथ्वी और आकाश के सादृश्य पर मन, बुद्धि और हृदय का वर्णन किया है। मानस-सागर में सुख दुःख की लहरें उठती हैं, पृथ्वी के प्रकाश के समान बुद्धि का ज्ञान है और हृदय तो रहस्यपूर्ण आकाश के समान 'नील नीलय' है। इसी प्रकार जब वर्षा होती है तब समुद्र से उठकर जो उष्णता (गरम भाप) आकाश में बादल बन कर छाई रहती है वही तो बरसती है। इस प्राकृतिक दृश्य को सामने रख कर कवि ने मानस सागर से लेकर विश्वसदन तक की चर्चा की है। आँसू जन्म उस हृदय ताप से होता है जो मानस सागर में उत्पन्न होता है। पर इन लाक्षणिक और साहित्यिक प्रयोगों को संकेत समझना चाहिए। खींचा तानी करके अनर्थ न करना चाहिए।

आँसू के तो कोई भी पद्य उद्धृत किए जा सकते हैं और उनकी व्याख्या करने से यह पता चल सकता है—कवि में हृदय की गंभीरता

कितनी है। अतः हम थोड़े से उदाहरण देंगे और पहले छंद से ही प्रारंभ करेंगे।

यद्यपि प्रसाद का सिद्धान्त है कि मन में दुःख सुख लिपटे सोते हैं तथापि वे कवि हैं करुणा कलित हृदय के—असीम वेदना के—

इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती?

मेरे हृदय को करुणा ने मथ डाला है। उसमें तो अब तड़पन की रागिनी बजती है। केवल असीम का वेदना का हाहाकार सुनाई पड़ता है। और –

मानस-सागर के तट पर
क्यों लोल लहर की घातें
कल-कल ध्वनि से हैं कहतीं
कुछ विस्मृत बीती बातें?

मेरे मानस-सागर में ऐसी हलचल है कि भूली हुई बीती बातें याद आ रही हैं। (जब हृदय में वेदना रहती है तो मन में न जाने कहाँ की भूली बातें रह रह कर याद आया करती हैं। बड़ी स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक बात का यह लाक्षणिक वर्णन :

आती है शून्य क्षितिज से
क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी
टकराती, बिलखाती सी
पगली सी देती फेरी?

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि शून्य क्षितिज से भी मेरे हाहाकार स्वरों की प्रतिध्वनि लौट कर आ रही है। (इस समय मेरा [illegible] और मन ही नहीं, बाह्य प्रकृति भी वेदनामय हो गई है।) मेरा [illegible]

पुकारता है, पर बाह्य संसार में उत्तर नहीं मिलता, इसी से वह पुकार विलखाती हुई लौट आती है।

बस गई एक बस्ती है
स्मृतियों की इसी हृदय में
नक्षत्र-लोक फैला है
जैसे इस नील निलय में।

और भीतर के हृदय का यह हाल है कि उसमें तो स्मृतियों की एक बस्ती बस गई है। एक दो बातें नहीं हैं। तारों के समान न जाने कितनी असंख्य अतीत स्मृतियाँ हैं, जो चमक-चमक कर वेदना के अन्धकार को गहरा और अनुभवगम्य बनाती रहती हैं।

शीतल ज्वाला जलती है
ईंधन होता दृग जल का
यह व्यर्थ साँस चल-चल कर
करती है काम अनिल का।

उस वेदना का अनुभव भी बड़ा विचित्र है। मैं ही जानता हूँ, क्या अनुभव कर रहा हूँ। ज्वाला जलती है, पर वह भी शीतल। अग्नि तो जला कर भस्म कर देती है, पर यह विचित्र अग्नि सदा सुलगा ही करती है। यहाँ जल कर भस्म हो जाने का भी सुख नहीं है। एक और विचित्रता है—जल से अग्नि बुझती है; पर यहाँ आँखों का जल मेरी आग का ईंधन हो जाता है। और साँस का चलना पवन के समान संधुक्षण किया करता है। यदि निगोड़ी साँस वन्द हो जाती तो अच्छा था। यह तो अब व्यर्थ चल रही है।

इन पाँच पद्यों की व्याख्या से ही हमें यह अनुभव होने लगता है कि आँसू के वर्णन में भाव की कितनी गहराई है। हमारा अनुभव है कि यदि व्याख्या करते चलें तो आगे के सभी छन्द ऐसे ही दर्द भरे, मीठे और सलोने लगते है कि हम सोचते हैं कि एक छन्द और

गुनगुना लें। तब बस रहने देंगे, पर अन्त तक यह लोभ बढ़ता ही जाता है। इसी से निर्दय आलोचक की तरह दिल मसोस कर हम आँसू की उन थोड़ी सी बातों पर विचार करना चाहते हैं, जिनसे आँसू के सभी पद्यों को समझने में सहायता मिले। सच पूछा जाय तो इन पाँच पद्यों की सच्ची व्याख्या के लिये ही इतना विचार और दर्शन आवश्यक है।

प्रो० पं० हरीदत्त दूबे एम० ए० द्वारा लिखित आँसू पर यह लेख हस्तलिखित 'हिन्दी' के प्रसाद-अंक से उद्धृत किया गया है। लेख अत्यन्त मार्मिक होने के कारण ही यहाँ दिया जा रहा है।

'आँसू व्यथित हृदय का मूर्त्त हाहाकार है। संसार में ऐसी बहुत कम आँखें होगीं जो आँसुओं के पर्वस्नान से पूत न हुई हों, जो द्रवीभूत हृदय का मार्ग बनकर कृतकृत्य न हुई हों। किन्तु आँसू केवल आँखों को ही पवित्र नहीं करते; वे समस्त बाह्य और आन्तर मानव जीवन के [illegible] मन्त्रपूत अभिषेक का काम करते हैं। हाँ, उनकी यह समस्त [illegible] पावनता साधारण-बुद्धि-ग्राह्य वस्तु नहीं है। मनुष्य ने अपने जीवन के उषाकाल में भी आँसू बहाये होंगे और आज भी वह आँसू बहाता है, किन्तु उसने सदैव ही इन्हें एक भौतिक वस्तु समझा। संसार के इतिहास मे बहुत कम प्रसंग ऐसे आये हैं, जब गंभीर विचारकों ने इनकी [illegible] गंभीरता को समझा और उन्हें अमर करने का प्रयत्न किया। मुझे इस समय अच्छी तरह स्मरण है कि वाल्मीकि की काव्यकृति उनकी [illegible] जन्य वेदना की मूर्त्त मालिका है और भवभूति का कृति [illegible] के रोदन-रस का स्थूल स्वरूप। किन्तु मैं आँसुओं की ओर भी [illegible] गहराई से भी उत्पन्न पाता हूँ और मेरी शिकायत है कि इस गहराई की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया है, जितना दिया [illegible] आधुनिक काल में जयशंकर प्रसाद इस गहराई तक पहुँचे [illegible] उनके आँसुओं की समीक्षा करेंगे।

संसार में अनेक कारणों से और अनेक रूपों में वेदना का आविर्भाव होता है ! किन्तु वेदना भौतिक संसार की वस्तु न होकर मानव-संसार की वस्तु होने के कारण उसके सम्बन्ध में विचार करते समय हम अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य के मन की ही विवेचना किया करते हैं। अपने वर्तमान प्रसंग के लिए मानवपन की दो विशेषताओं पर हमें ध्यान देना होगा, जिन पर हम क्रम से विचार करेंगे।

जीवन दो प्रकार के अनुभवों की समष्टि-सा प्रतीत होता है; इन अनुभवों को हम स्थूलतया प्रिय और अप्रिय अनुभव कह सकते हैं। हमारे लाख प्रयत्न करने पर भी अनेक अप्रिय अनुभव हमारे मार्ग में आ ही पड़ते हैं और हमारे लाख प्रयत्न करने पर भी उनमें से अधिकांश टाले नहीं टलते। इतनी बात तो संसार के प्रत्येक मनुष्य के लिए सच है; किन्तु इन अनुभवों की मानसिक प्रतिक्रिया में अंतर है। अधिकांश लोग इन अप्रिय अनुभवों के भौतिक पार्श्व से ही लड़ने झगड़ने में अपनी सारी शक्ति लगाते हुए अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करते हैं। कुछ लोग इनकी गहराई में जाकर सोचने का प्रयत्न करते हैं; किन्तु उनकी कटुता से पक्षाहत होकर रह जाते हैं। बहुत थोड़े लोग इस कटुता से अविजित रहकर अपनी खोज में सफल होते हैं।

बाहरी जीवन में हमे प्रति दिन हो ठेसें लगा करती हैं। यदि हमारे मन में आत्माभिमान है तो ये ठेसें हमारे अन्तःकरण में एकत्र हुआ करती हैं और उनका प्रभाव संग्रहीत होता रहता है। इस एकत्र प्रभाव के भिन्न-भिन्न अंगो का भान धीरे-धीरे नष्ट होता जाता है और उसकी संहतिमात्र ही हमारे मानस अनुभव का विषय रह जाती है। इन अंगों की भिन्नता और विविधता एक दूसरे संसार की सी वस्तु जान पड़ने लगती है, केवल स्मृति सी मन में छाई रहती है। इसी अनुभव को 'प्रसाद' ने अपने किसी कवितापूर्ण क्षण में इन अमर पंक्तियों में व्यक्त किया था:—

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति सी छाई।
दुर्दिन मे आँसू बनकर
वह आज बरसने आई।

साधारण लोगों के जीवन में जो आँसू बहते हैं; वे केवल आँखों से बहते हैं और एक ही चोट की ठेस से। एक-दो चोटों से विचलित न होना साधारण हृदय का काम नहीं और प्रायः असाधारण हृदय के आँसू भी असाधारण रूप में बाहर आया करते हैं। ऐसे असाधारण हृदयों की घनीभूत पीड़ा को बाहर निकालने का सामर्थ्य 'दुर्दिन' में ही होता है। देखें यह कौन-सा दुर्दिन है।

घनीभूत पीड़ा अन्तःकरण में एक विचित्र आन्दोलन उत्पन्न करती है। बाह्य जीवन की ठेसों का अनवरत पुकार सजग मन की संसार की सारवत्ता के विश्वास शिथिल करता जाता है और कोई भी जागरूक-प्रवृत्ति व्यक्ति सारहीन विश्व-जाल में उद्देश्यहीन जीवन बिताने में तृप्त नहीं होता। यह अतृप्ति किसी न किसी अंश में सभी व्यक्तियों को अनुभूत होती है; किन्तु सबके जीवन में वह स्थिर वेदना की सीमा तक नहीं पहुँचती, बल्कि धीरे धीरे अभ्यस्त हो जाती है और व्यक्ति दृश्यमान संसार को ही वास्तविक मानकर उससे घुल-मिल जाता है। कुछ व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकते। उनकी आंतर प्रेरणा इस प्रकार संसार में घुल मिल जाने के लिए [illegible]
तब तक तैयार नहीं होती जब तक कि उनको सारवत्ता [illegible]
विश्वास उत्पन्न नहीं हो जाता। गंभीर-प्रकृति व्यक्तियों के [illegible]
तत्त्व अपनी प्रभविष्णुता जताना चाहता है और सार [illegible]
जातीय तत्त्व प्राप्त करने के लिये उत्सुक होता है। [illegible]
हीनता का अभ्यास उसकी इस प्रकृति का स्पष्ट विरो[illegible]
वह सहन नहीं कर सकता। बाह्य जगत की सारहीनता [illegible]

संसार में अनेक कारणों से और अनेक रूपों में वेदना का आविर्भाव होता है ! किन्तु वेदना भौतिक संसार की वस्तु न होकर मानव-संसार की वस्तु होने के कारण उसके सम्बन्ध में विचार करते समय हम अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य के मन की ही विवेचना किया करते हैं। अपने वर्तमान प्रसंग के लिए मानवपन की दो विशेषताओं पर हमें ध्यान देना होगा, जिन पर हम क्रम से विचार करेंगे।

जीवन दो प्रकार के अनुभवों की समष्टि-सा प्रतीत होता है; इन अनुभवों को हम स्थूलतया प्रिय और अप्रिय अनुभव कह सकते हैं। हमारे लाख प्रयत्न करन पर भी अनेक अप्रिय अनुपव हमारे मार्ग में आही पड़ते हैं और हमारे लाख प्रयत्न करने पर भी उनमें से अधिकांश टाले नहीं टलते। इतनी बात तो संसार के प्रत्येक मनुष्य के लिए सच है; किन्तु इन अनुभवों की मानसिक प्रतिक्रिया में अंतर है। अधिकांश लोग इन अप्रिय अनुभवों के भौतिक पार्श्व से ही लड़ने झगड़ने में अपनी सारी शक्ति लगाते हुए अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करते हैं। कुछ लोग इनकी गहराई में जाकर सोचने का प्रयत्न करते हैं; किन्तु उनकी कटुता से पराहत होकर रह जाते हैं। बहुत थोड़े लोग इस कटुता से अविजित रहकर अपनी खोज में सफल होते हैं।

बाहरी जीवन में हमें प्रति दिन हो ठेसें लगा करती हैं। यदि हमारे मन में आत्माभिमान है तो ये ठेसें हमारे अन्तःकरण में एकत्र हुआ करती हैं और उनका प्रभाव संग्रहीत होता रहता है। इस एकत्र प्रभाव के भिन्न-भिन्न अंगो का भान धीरे-धीरे नष्ट होता जाता है और उसकी संहतिमात्र ही हमारे मानस अनुभव का विषय रह जाती है। इन अंगों की भिन्नता और विविधता एक दूसरे संसार की सी वस्तु जान पड़ने लगती है, केवल स्मृति सी मन में छाई रहती है। इसी अनुभव को 'प्रसाद' ने अपने किसी कवितापूर्ण क्षण में इन अमर पंक्तियों में व्यक्त किया था:—

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आई।

साधारण लोगों के जीवन में जो आँसू बहते हैं; वे केवल आँखो से बहते हैं और एक ही चोट की ठेस से। एक-दो चोटों से विचलित न होना साधारण हृदय का काम नहीं और प्रायः असाधारण हृदय के आँसू भी असाधारण रूप में बाहर आया करते हैं। ऐसे असाधारण हृदयों की घनीभूत पीड़ा को बाहर निकालने का सामर्थ्य 'दुर्दिन' में ही होता है। देखें यह कौन-सा दुर्दिन है।

घनीभूत पीड़ा अन्तःकरण में एक विचित्र आन्दोलन उत्पन्न करती है। बाह्य जीवन की ठेसों का अनवरत पुकार सजग मन का संसार की सारवत्ता के विश्वास शिथिल करता जाता है और कोई भी जागरूक-प्रकृति व्यक्ति सारहीन विश्व-जाल में उद्देश्यहीन जीवन बिताने में तृप्त नहीं होता। यह अतृप्ति किसी न किसी अंश में सभी व्यक्तियों को अनुभूत होती है; किन्तु सबके जीवन में वह स्थिर वेदना की सीमा तक नहीं पहुँचती, बल्कि धीरे धीरे अभ्यस्त हो जाती है और व्यक्ति दृश्यमान संसार को ही वास्तविक मानकर उससे घुल-मिल जाता है। कुछ व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकते। उनकी आंतर प्रेरणा इस प्रकार संसार में घुल-मिल जाने के लिए तब तक तैयार नहीं होती जब तक कि उसकी सारवत्ता में उसका सच्चा विश्वास उत्पन्न नहीं हो जाता। गंभीर-प्रकृति व्यक्तियों के जीवन में आंतर तत्त्व अपनी प्रभविष्णुता जताना चाहता है और बाह्य संसार में अपना सजातीय तत्त्व प्राप्त करने के लिये उत्सुक होता है। बाह्य संसार में सार-हीनता का अभ्यास उसकी इस प्रवृत्ति का स्पष्ट विरोध करता है, जिसे वह सहन नहीं कर सकता। बाह्य जगत् की सारहीनता के अभ्यास की

वृद्धि के साथ उसकी आकुलता बढ़ती जाती है। यह एक बड़ा ही मनोहर विरोध है और इसका वर्णन बड़ी ही मनोहर रीति से 'प्रसाद' ने किया है:—

मानस सागर के तट पर
क्यों लोल लहर की घातें
कलकल ध्वनि से हैं कहतीं
कुछ विस्मृत बीती बातें ?
आती है शून्य क्षितिज से
क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी ?
टकराती, बिलखाती सी
पगली-सी देती फेरी ?
क्यों व्यथित व्योम-गंगा-सी
छिटकाकर दोनों छोरें
चेतना-तरंगिनि मेरी
लेती है मृदुल हिलोरें ?

इस बात को समझने के लिये थोड़ा और विचार करना आवश्यक है। मन या चेतना की स्थिति हमारे जीवन में ऐसी जगह है कि वह जीवन को दो भागों में बाँटती है, एक है बाह्य गोचर संसार और दूसरा है चेतना के पीछे का, उस पार का, रहस्यमय संसार। इन दोनों में सम्बन्ध स्थापित करने का साधन है चेतनता। इस पर पड़े हुए गोचर संसार के प्रभाव तो हम समझ सकते हैं, किन्तु उस पार के रहस्यमय संसार के प्रभाव प्रायः नहीं समझ पाते। ये प्रभाव 'कुछ विस्मृत बीती बातें' कहा करते हैं। इन प्रभावों का अर्थ ढूँढ़ने के लिये हमारा मन आतुर हो उठता है और साधारणतया बहिर्मुख होने के कारण गोचर-संसार में निकल पड़ता है; किन्तु वहाँ क्या मिलने वाला है! वहाँ से वह बिलखता-सा, टकराता-सा, और पागल-सा लौट आता है और सारी चेतना-तरंगिणी क्षुब्ध हो उठती है। बड़ा सुन्दर रूपक है! ये व्यर्थ प्रयत्न जिस वेदना

की सृष्टि करते हैं, उसने हिन्दी-संसार में बड़े सुन्दर काव्य को जन्म दिया है। 'प्रसाद' के आँसू इसी वेदना से निकले हैं। बहुत समय पहिले कबीर इसकी प्रशंसा कर गये हैं:—

हँस हँस के तन पाइया जिन पाया तिन रोय।
हाँसी खेले पिउ मिले तो कौन सुहागिन होय॥
सुखिया सब संसार है खावै औ सोवै।
दुखिया दास कबीर है जागै औ रोवै॥—कबीर

इस वेदना का परिणाम यह होता है कि साधक जागता है और रोता है। साथ ही उसे अब तक के सुख-सम्पादक नाम-रूपात्मक संसार में किसी रस का अनुभव नहीं होता, आन्तरिक जागरूकता के कारण वास्तविक संसार एक स्वप्न-सा दिखने लगता है, उससे एक प्रकार की दूरी का अनुभव होने लगता है और हृदय में एक अमूर्त्त संसार की कल्पना जागृत होती है:—

बस गई एक बस्ती है
स्मृतियों की इसी हृदय में।
नक्षत्र लोक फैला है
जैसे इस नील निलय में॥

वेदना बढ़ते-बढ़ते विश्व-व्यापिनी हो जाती है। भावाधिक्य का यही परिणाम होता है। यथार्थ में हमें अपना हृदय ही तो बाह्य संसार में प्रतिबिम्बित दिखता है। जब हम प्रसन्न होते हैं, तो संसार प्रसन्न हो जाता है और जब हमारा हृदय रोता है तब सारा संसार हमारे साथ रोता है। कबीर को अपनी सिद्धावस्था में सारा संसार अपने प्रिय की लालिमा से लाल दिखता है:—

लाली मेरे लाल की जित देखों तित लाल।
लाली ढूँढ़न मैं गई मैं भी हो गई लाल॥—कबीर

परन्तु 'प्रसाद' तो अभी तक सिद्ध नहीं थे और इसलिए—

जब नील निशा-अंचल में
हिमकर थक सो जाते हैं।
अस्ताचल की घाटी में
दिनकर भी खो जाते हैं।
नक्षत्र डूब जाते हैं
स्वर्गंगा की धारा में।
बिजली बन्दी होती जब
कादम्बिनि की कारा में।
मणि-दीप विश्व-मन्दिर की
पहिने किरणों की माला।
तुम एक अकेली तब भी
जलती हो मेरी ज्वाला।

और—

चातक की चकित पुकारें,
श्यामा-ध्वनि तरल रसीली।
मेरी करुणार्द्र कथा की
टुकड़ी आँसू से गीली!

सारा संसार ही उनके आँसुओं से गीला है!

यह है आँसू के सम्बन्ध में लेखक का दृष्टिकोण; किन्तु इतना कह देने मात्र से सब बातें स्पष्ट नहीं हो जातीं। कम से कम एक-दो बातों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। सब से पहली बात है रीति से सम्बन्ध रखनेवाली। रहस्यवाद के सम्बन्ध में जो भ्रांति आज हिन्दी-संसार में फैली है, उसका सम्बन्ध इसी विषय से है। हम आरम्भ में ही देख आये हैं कि हमारा मन हमारे आंतरिक रहस्यमय संसार और बाह्य भौतिक संसार के बीच मध्यस्थ का-सा काम करता है। हमारे जीवन के सच्चे और गम्भीर अनुभव बाह्य संसार में नहीं, आंतरिक संसार में उत्पन्न होते हैं। एक स्थिति आती है;

जब हम विश्व के आधार-भूत सार-तत्त्व के लिए लालायित हो उठते हैं और प्रकृति का एक नियम है कि हमारी तीव्रतम लालसाएँ किसी न किसी रूप में बाहर निकलने का प्रयत्न करती हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्व की बात यह है कि आंतरिक अनुभवों के व्यक्त करने का मतलब है, एक संसार के प्राणियों को दूसरे संसार में उतारना। आंतरिक अनुभवों को बाहर आने का एक ही मार्ग है और वह मन। पर सब का मन एक ही सा नहीं होता। हमारे शिक्षा-संस्कार आदि का प्रभाव हमारे मन पर पड़ता है और यह प्रभाव उसमें से निकलने वाले सभी अनुभवों पर अपना रंग चढ़ाता है। बौद्धिक शिक्षा के संस्कार से रहित मन एक सीधे-साधे काँच के समान है और संस्कृत मन रंगीन काँच के समान—असंस्कृत मन भीतरी अनुभवों को असंस्कृत रूप में ही बाहर लाकर रख देता है; पर संस्कृत मन पेचीदा रूपकों आदि का सहारा लेकर उन अनुभवों को जीवित करके बाह्य संसार के प्राणी बनाने का प्रयत्न करता है। कबीर की रहस्यवादी कविता पहिले प्रकार का उदाहरण है और 'प्रसाद' की रहस्यवादी कविता दूसरे प्रकार का। पहिले प्रकार में कविता कम और सूखा सत्यत्व अधिक रहता है और दूसरे प्रकार में सत्य काव्य की अलौकिक सुषमा का आच्छादन ओढ़कर आता है। पहिले प्रकार की कविता रूखी हो; किन्तु उसमें भ्रांति की सम्भावना कम रहती है। दूसरे प्रकार की कविता सरस होती हैं; पर उसमें भ्रांति की सम्भावना भी अधिक रहती है। 'झीनी झीनी बीनी चदरिया।' और घूँघट के पट खोल री तोहे राम मिलेंगे।' रूपक हैं, पर इतने स्पष्ट कि उनके सम्बन्ध में अन्यथा ग्रहण की सम्भावना नहीं। यह बात प्रसाद जी के सम्बन्ध में लागू नहीं है। उनका वर्णन इतना सजीव हो गया है कि उनके आत्मिक अनुभव भौतिक अनुभवों की भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं।

इतना सुख ले पल भर में
जीवन के अन्तस्तल से

तुम खिसक गये धीरे से
रोते अब प्राण विकल से।

× × ×

दुख क्या था, उनको मेरा
जो सुख लेकर यों भागे!
सोते में चुम्बन लेकर
जब रोम तनिक सा जागे!

सबसे अधिक भ्रामक है 'आँसू' के १७ वें पृष्ठ पर आरम्भ होने वाला भाग जिसका आरंभ है 'बाँधा था विधु को किसने इन काली जंजीरों में' यह स्पष्ट भौतिक सौन्दर्य-चित्रण है। सम्पूर्ण भाग मानव-सौन्दर्य का अत्यन्त अनुरक्त वर्णन है और मुझसे इस वर्णन की आध्यात्मिकता दिखाने के लिए कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में मैं अपने पाठकों का ध्यान इसके पहिले के भाग की ओर आकृष्ट करूँगा जिसका अन्तिम छन्द है:—

लावण्य शैल राई-सा
जिस पर वारी बलिहारी
उस कमनीयता कला की
सुषमा थी प्यारी प्यारी।

संसार के आधार-तत्त्व को पाने के प्रयत्न में कवि को किसी अनिर्वचनीय तथ्य आंशिक और क्षणिक अनुभव होता है, किन्तु वह क्षणिक मिलन भी इतना सुखकर है कि कवि का पागल हृदय उस रूप का स्मरण करके बार बार रस-मुग्ध हो उठता है। यह रस-रागातिशय उस सीमा को पहुँचता है, जहाँ उसे संसार का समस्त एकत्र सौन्दर्य तुच्छ जान पड़ता है और उसका अनुभव बुद्धि की सीमा से सम्पूर्णतया स्वतन्त्र होकर केवल रागमय हो जाता है। और यह तो हम जानते ही हैं कि राग परिचित स्थूल के लिए आतुर रहता है। परिणाम यह होता है कि कवि अपनी उस गहराई से निकल कर एकदम भौतिक पृष्ट पर दौड़ आता है और किसी परिचित व्यक्तित्व को पकड़

लेता है। यह परिचित व्यक्तित्व स्थूल संसार की कोई भी वस्तु हो सकती है; मूर्ति, चित्र, प्रेमी, प्रेमिका, स्थान, समाज आदि। जहाँ भी 'आँसू' में ऐसे भौतिक वर्णन मिलते हैं, इसी रागातिरेक के द्योतक हैं ! हाँ, कुछ प्रसंग ऐसे अवश्य हैं जहाँ-वर्णन की स्पष्टता उसके रूपकत्व की ओर एकदम हमारा ध्यान आकृष्ट कर देती है—

छायानट छवि-परदे में
सम्मोहन वेणु बजाता
संध्या कुहुकिनि अंचल में
कौतुक अपना कर जाता।

किन्तु इस प्रकार के वर्णन कम हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'प्रसाद' के आँसू उसी वेदना के परिणाम हैं, जिसने कबीर के रहस्यवाद को जन्म दिया था और जिसने 'दरद' होकर दादू को हैरान किया था। हाँ, एक बात ध्यान में रखी जाय; 'आँसू' की रचना तक 'प्रसाद' लगभग एक सद्योजात रहस्यवादी हैं। उन्हें अपने प्रिय का, इस विश्व का आधारभूत तत्त्व का, आंशिक और क्षणिक ही दर्शन प्राप्त हुआ है और इसलिए अब तक उनकी वेदना निश्चित और स्थिर सुख में परिवर्तित नहीं हुई है। अपनी नई भूमिका का उन्हें भान तो होता है; किन्तु वे निश्चयपूर्वक उसकी उपादेयता की घोषणा करने में सकुचाते हैं। और ऐसा होना स्वाभाविक ही है। 'या जग अंधा मैं केहि समुझावौं' कह सकने के लिए एक निश्चित् और स्थिर स्थिति की आवश्यकता है।

नाविक इस सूने तट पर
किन लहरों में खे लाया !
इस बीहड़ वेला में क्या
अब तक था कोई आया !

इससे घबराहट स्पष्ट है यद्यपि उन्हें अपनी नई प्राप्ति की कल्याण सम्पादकता में बुद्धिगत विश्वास है:—

निर्मम जगती को तेरा
मंगलमय मिले उजाला।
इस जलते हुए हृदय की
कल्याणी शीतल ज्वाला।

आलोचक ने जिस 'मंगलमय उजाला' की बात छेड़ी है, वह कवि की कामायनी में है और है और शरद् पूर्णिमा की पूर्णता में, सुंदर और साकार। आँसू और कामायनी में एक ही हृदय की दो अवस्थाएँ हैं और इन दोनों के बीच के अनुभव लहर में बिखरे हुए हैं। इस प्रकार प्रकाशन का क्रम ही अध्ययन का भी क्रम होना चाहिए—आँसू, लहर और कामायनी। इन्हीं तीनों कृतियों में कर्त्ता की बुद्धि और कला का पूरा परिचय मिल जाता है।

आँसू खण्ड काव्य है।। चित्राधार, कानन कुसुम और झरना में कवि की भावनाएँ अपनी साकार प्रतिमा न खड़ी कर सकी थीं। आँसू में भावनाएँ अपना पूर्ण रूप प्रदर्शित करती हैं। उन दिनों कवि की आत्मा आकुल थी। वर्षा के दिन थे। प्रसाद जी सदैव 'नोटबुक' और 'फाउण्टेन-पेन' अपने साथ रखते थे। कभी नाव पर अथवा एक्के पर बैठे वह आँसू की पंक्तियाँ लिख कर सुनाते। आँसू की रचना में लगभग एक वर्ष का समय लगा है। वह इसी तरह फुटकर पंक्तियाँ ही लिखते गये। किसी दिन दो चार पंक्तियों से अधिक उन्होंने नहीं लिखीं।

आँसू प्रकाशित होने पर उसकी ख्याति और प्रचार खूब हुआ। आँसू का प्रभाव इतना पड़ा कि इस छन्द में कविताएँ होने लगीं। बहुतों ने इसका अनुकरण किया। इसके दूसरे संस्करण में प्रसाद जी ने कुछ परिवर्तन किया और आकार भी दूना बन गया।

आँसू में ऐसा प्रतीत होता है कि कवि के यौवन में वैभव के विलास का स्वर करुण गान बनकर गूँजा है। जैसे रोने के बाद मन

हलका होता है वैसे ही आँसू लिखकर ही कवि की आत्मा को शान्ति मिल गई थी। मानव-हृदय की पवित्र निधि में से एक एक बूँद निकल कर जैसे बरस पड़ती है। वही रूप आँसू के पद्यों में भी है।

महादेवी जी ने 'यामा' की प्रस्तावना में सुख-दुःख का बड़ा ही मार्मिक विवेचन किया है—मेरा हृदय सुख-दुःख में सामञ्जस्य का अनुभव करने लगा। पहले बाहर खिलने वाले फूल को देखकर मेरे रोम-रोम में ऐसा पुलक दौड़ जाता था मानो वह मेरे ही हृदय में खिला हो, परन्तु उसके अपने से भिन्न प्रत्यक्ष अनुभव में एक अव्यक्त वेदना भी थी, फिर यह सुख-दुःख मिश्रित अनुभूति ही चिन्तन का विषय बनने लगी और अन्त में अब मेरे मन ने न जाने कैसे उस बाहर भीतर में एक सामञ्जस्य सा ढूँढ़ लिया है, जिसने सुख-दुःख को इस प्रकार बुन दिया कि एक के प्रत्यक्ष अनुभव के साथ दूसरे का अप्रत्यक्ष आभास मिलता रहता है।

प्रसाद जी के आँसू के इस पद्य में इसी सुख-दुःख के सामञ्जस्य का एक सजीव चित्र है—

लिपटे सोते थे मन में
सुख-दुख दोनों ही ऐसे,
चन्द्रिका अँधेरी मिलती
मालती कुञ्ज में जैसे

आँसू में केवल कवि का करुण क्रन्दन ही नहीं, उसमें सान्त्वना भी है—

चेतना लहर न उठेगी
जीवन समुद्र थिर होगा।
संध्या हो सर्ग प्रलय की
विच्छेद मिलन फिर होगा॥

प्रसाद जी का विचार था कि आँसू को ही कामायनी का एक सर्ग रखें, किन्तु कथानक की कठिनाई के कारण उन्होंने वैसा न करके आँसू को स्वतन्त्र ही रखा। इसमें सन्देह नहीं कि आँसू की रचना के पश्चात् ही महाकाव्य की प्रेरणा हुई और कामायनी उस का फल है।

आँसू के बाद 'लहर' प्रकाशित हुई। कवि के हृदय की विशालता का परिचय इन पंक्तियों में मिलता है।

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ
इसमें क्या है धरा, सुनो।
मानस जलधि रहे चिर चुम्बित—
मेरे क्षितिज! उदार बनो।

'हंस' के आत्मकथांक में बहुत आग्रह करने पर भी प्रसाद जी ने अपनी आत्म-कथा गद्य में नहीं लिखी, वह अपनी जीवन-गाथा का मर्ममय इतिहास अपनी लेखनी से केवल काव्य की कुछ पंक्तियों में ही छोड़ गये हैं। यह कविता उनकी आत्म-कथा के रूप में हंस के आत्मकथांक में प्रकाशित हुई थी। प्रसाद जी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व कविता में छिपा हुआ है। उनकी सरलता और दृढ़ता का संकेत इस पंक्ति में है—सीवन को उधेड़ कर देखोगे क्यों मेरी कन्था की?

मधुप गुन-गुनाकर कह जाता कौन कहानी यह अपनी,
मुरझाकर गिर रहीं पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी।
इस गम्भीर अनन्त-नीलिमा में असंख्य मानव इतिहास—
यह लो, करते ही रहते हैं, अपना व्यङ्ग्य मलिन उपहास।
तब भी कहते हो—कह डालूँ दुर्बलता अपनी-बीती।
तुम सुनकर सुख पाओगे, देखोगे—यह गागर रीती।
किन्तु कहीं ऐसा न हो कि तुम ही खाली करने वाले—
अपने को समझो, मेरा रस ले अपनी भरने वाले।

यह विडम्बना ! अरी सरलते तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं।
भूलें अपनी, या प्रवञ्चना औरों की दिखलाऊँ मैं।
उज्जवल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की।
अरे खिल-खिलाकर हँसते होने वाली उन बातों की।
मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया ?
आलिङ्गन में आते-आते मुसक्या कर जो भाग गया।
जिसके अरुण-कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में।
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में।
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पन्था की।
सीवन को उधेड़ कर देखोगे क्यों मेरी कन्था की ?
छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथायें आज कहूँ ?
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ ?
सुनकर क्या तुम भला करोगे—मेरी भोली आत्म-कथा ?
अभी समय भी नहीं—थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।

आत्म-कथा में आप बीती बातों में से कुछ मर्म की बातें चुन ली जाती हैं और वे इस ढंग से कही जाती हैं कि कहनेवाले का सच्चा जीवन सुनने वाले के सामने आ जाय। वक्ता अपनी सब से बड़ी बात कहता है चाहे वह अलौकिक और गोपनीय ही क्यों न हो। अतः आत्म-कथन में स्वाभाविकता और सचाई के अतिरिक्त लेखक की वह निजी छाप रहती है, वह जीवन का मर्म रहता है, जिसे हम उसकी अपनी बात कहते हैं, जिससे हम उसे पहचानते हैं।

प्रसाद कवि थे—जीवन के रहस्य को खोजने वाले मनुष्य थे इसी से आत्म-कथा में उन्होंने कवि जीवन की उज्जवल गाथा गाई है। वे अपने जीवन की सब से बड़ी बात समझते हैं कवि की दृष्टि और अनुभूति। वे सीधी और सरल आत्म-कथा को विडम्बना समझते थे। और सच्चे साहित्य को ही साहित्यकार की सच्ची आत्म-कथा

समझते हैं क्योंकि सुख-दुःख वाले जीवन की अपनी अनुभूति ही तो साहित्य है। आत्म-कथा न लिखने का दूसरा कारण भी कवि ने दिया है। भाई मेरा स्वभाव ऐसा है कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ। और मेरी अनुभूति भी ऐसी हैं कि जब वह जागती रहती है, तब तो बोला ही करती है, उसे इस असमय में जगाकर अस्वस्थ न करो। आज्ञा से काम करना उसका स्वभाव नहीं है।

इस प्रकार 'नहीं नहीं, करने में भी उनके निजी सिद्धांत व्यक्त हो गए हैं। उनकी कला इतनी प्रौढ़ हो गई है कि उससे अनजाने ही न जाने क्या-क्या सध गया है। कवि को एक संपादक ने छेड़ा। बार बार आग्रह किया कि कुछ अपने बारे में लिख दो। उसने खीझकर नाहीं लिख भेजी। खीझ भरा लेख कविता बन गया। उसमें प्रधान होना चाहिए था विचार, पर हो गया कुछ और ही। उसमें खीझ भरा हृदय प्रधान बन गया। इस प्रकार इस कविता में कवि का दर्शन और काव्य दोनों हैं। यदि हम केवल एक इसी कविता को ध्यान से पढ़ें तो उनकी बुद्धि और कला का पूर्ण विकास देख पड़ता है। इसी प्रौढ़ भूमिका में आ कर उन्होंने अपनी कामायनी लिखी है। इस प्रकार अभ्यास और विकास के विचार से जो चार काल माने जाते हैं।—

१—आरम्भ काल, २—आँसू के पहले, ३—आँसू काल और ४—आँसू के बाद; उन में यह चौथे काल की सिद्ध रचना है। कवि की अनुभूति तो सभी कालों में पहुँची हुई और डूबी हुई है, पर कला इसी काल में भाषा और भाव दोनों का पूर्ण योग सिद्ध कर सकी है।

इन सब ऊपरी बातों से अधिक महत्व की बात यह है कि इस छोटी सी रचना में प्रसाद जी ने अपनी बड़ी कथा कह दी है। सब से पहले वे चराचर सृष्टि की ओर संकेत करते हैं और प्रकृति से अपना संबंध दिखाते हुए कहते हैं :—

देखो, यह मधुप गुनगुना रहा है। उस का गुनगुनाना ही उसकी अपनी प्रेम कहानी है। दूसरी ओर देखो कितनी अनगिनत पत्तियाँ मुरझा कर गिर रही हैं। एक ओर प्रेम का गीत चल रहा है दूसरी ओर संहार का विराट् दृश्य है। थोड़ा और देखो। इस गंभीर अनन्त-नीलिमा वाले आकाश में कितने तारे हँस रहे हैं। इसी प्रकार न जाने कितने मानव इतिहास नित्य बनते बिगड़ते रहते हैं। वे मानो व्यंग की हँसी हँस रहे हैं कि तुम भी अपना इतिहास लिखोगे? इस अनन्त और गंभीर विश्व को देखो और अपने को देखो।

भौंरे, फूल-पत्ती आदि प्रकृति की प्रत्यक्ष वस्तुओं और संसार के हमारे जैसे ही असंख्य मानवों को देखकर हमारा हृदय तो सिहर उठता है। कितने छोटे और दुर्बल हम हैं। इस विश्व में हमारा स्थान ही क्या है।

तब भी तुम आग्रह करते हो कि अपनी बीती लिखो। यह तो हमारी दुर्बलताओं का खुला चिट्ठा होगा। हाँ, उसे सुनने से तुम्हें सुख अवश्य मिलेगा। साथ ही तुम यह भी देखोगे कि मेरी जीवन रूपी गागर रीती है। उसमें कुछ है नहीं। पर इसी समय कवि का आत्म-भाव सजग हो जाता है।

और वह बूढ़े सयाने गृहस्थ और चतुर आत्मज्ञानी की भाँति हँसकर कहता है कि देखो मैं तो अपनी अपूर्णता दिखा रहा हूँ, पर यदि तुम भी अपने जीवन को अच्छी तरह देखोगे तो समझोगे कि उसमें जो रस है तुम्हारा अपना नहीं, दूसरे का है। तुम्हें अपना घड़ा भरा दिखाई पड़ता है मेरा खाली। इसका कारण तुम्हारा असहृदय होना है, यदि तुम सहृदय होकर देखोगे तो तुम्हें सभी घड़े भरे दिखाई पड़ेंगे। यदि केवल ऊपरी आँखों से देखोगे कि तुम्हें अपना जीवन तो भरा पूर्ण दीखेगा, पर दूसरों का रीता और अपूर्ण; अनुभव एक दिन बतावेगा इसका कारण दूसरे नहीं स्वयं तुम्हीं हो।

कवि का अभिप्राय यह है कि रस आस्वाद लेने वाले में रहता है न कि आस्वाद्य सामग्री में। इसी से यदि कोई कवि के अमृत घट में कुछ नहीं पाता तो यह उस भावुक की अपूर्णता है। यदि उस भावुक के पास रस भरा हृदय होता तो वह अवश्य कवि के हृदय को पहचान लेता।

ऊपर वाले सत्य वचन में कुछ कटुता मालूम होती है इससे सज्जनता और सभ्यता का ध्यान रखते हुए विदग्ध कवि ने बड़े सौम्य शब्दों में कहा है कि तुम मेरी गागर रीती पावोगे यह सच है, पर ऐसा भी हो सकता है कि तुम्हे अपनी ही अपूर्णता का अनुभव होने लगे और यह मालूम हो जाय कि कवि ने तो बूँद-बूँद दे डाला है, इसीके रस से हम भर उठे है। अतः यह खाली गागर नहीं, आत्मदान दे चुकनेवाले शरद् का प्रसन्न घन है। प्रत्येक सहृदय क ऐसा ही अनुभव होता है। जिसे ऐसा अनुभव नहीं होता वह सहृदय है। कवि ने किस शिष्ट कौशल से ये दोनों बाते कहीं देखते ही बनता है।

आगे कवि कहता है कि आत्म-कथा क्या होगी, विडम्बना होगी? मेरा जीवन तो इतना सरल है कि उसकी सरल और भोली बातें दूसरों को सुनना सरलता की हँसी उड़ाना है। सरल जीवन के दो ही पक्ष होते हैं—भूलें करना और दूसरों की प्रवञ्चना सहना। इनमें से मैं क्या दिखलाऊँ।? दोनों ही छिपाने की चीज़े हैं। केवल एक बात कहने योग्य है। वह है उस सुहाग रात की—महामिलन की घटना। वह सुख की कहानी अवश्य उज्ज्वल और मधुर है। चैत्र-क्षपा के समान उज्ज्वल और मधुर रातों की और उन बातों की जो खिलखिला कर हँसते होती हैं, गाथा गाई भी जाय तो कैसे? एक तो कुछ संकोच होता है और दूसरे वह सुख भी पूर्ण रूप से मिला कहाँ? वह तो स्वप्न था। एक झलक भर मिली। अब तो केवल उसकी स्मृति है।

जिस प्रकार जागने पर स्वप्न की सलोनी स्मृति रह जाती है उसी प्रकार अब हमें केवल इतना ही स्मरण है कि वह आलिंगन में आते आते मुसकाकर भाग गया, ऐसे समय में वह भागा कि जब आनन्द की पूर्णता सी हो रही थी। और उसकी सुन्दरता का क्या पूछना है। उसके अरुण कपोलों की कान्ति में विश्वसुंदरी उषा भी अपना सुहाग लेती थी। उसी परमानन्द और परम सुन्दर की स्मृति इन गिरते दिनों में हमारे जीवन का आधार है। हम तो चलते चलते थक गए हैं। हमें चुपचाप अपनी कन्था में लिपट कर विश्राम करने दो। इस समय बीते दिनों की चर्चा छेड़ना कन्था की जीवन को उधेड़ कर देखना है। दया करो। यह न करो।

भाई, यदि तुम्हें सुनना ही है तो कभी फिर सुन लेना। आज मेरा मन नहीं है। इस छोटे से जीवन की भी एक कथा नहीं, कथाएँ हैं और वे भी छोटी-छोटी नहीं, बड़ी-बड़ी हैं। इससे मुझे इस समय यही अच्छा लगता है कि मैं औरों की सुनता, स्वयं मौन रहूँ। यही भी तो कहो कि तुम भला मेरी भोली आत्म-कथा सुनकर करोगे क्या ?

और फिर यह भी देखो कि अभी समय भी नहीं है। मेरा जीवन वेदना और व्यथा का बना है। इस समय मैं थककर सब भूल गया हूँ। मन सो गया है। ऐसी थकी निद्रा में उसे जगाना ठीक नहीं। जब मन जागता रहेगा, उसे स्मृति की वेदना सताती रहेगी, तब मेरी कुछ कहानियाँ सुन लेना। मैं तो सदा ही आप बीती सुनाया करता हूँ। वही तो मेरा जीवन है।

प्रसाद जी ने मुख्य चार बातें कहीं हैं :—

१—उनका जीवन बाहरी दृष्टि से रीती गागर है पर सहृदय के लिए उसमें रस भरा है।

२—मेरा जीवन बड़ा सरल और भोला है। मैंने भूलें की हैं, दूसरों से ठगाया हूँ, पर कभी किसी को ठगा नहीं है।

३—मैंने भी जीवन का मधुर स्वप्न देखा है, पर उसका अनुभव इतना सुखद, तरल और क्षणिक था कि उससे मुझे तृप्ति न हो सकी। और उसके बीत जाने पर उसकी स्मृति के सहारे जी रहा हूँ।

४—मैं तो सदा ही अपनी व्यथा की कथा लिखा करता हूँ। व्यथा हो तो मेरा जीवन है। इस समय मौन होकर थकान मिटा रहा हूँ।

इसके साथ ही कवि प्रसाद ने अपने रहस्यवाद, वेदनावाद, इतिहासवाद आदि की कुञ्जी बता दी है। कवि संसार भर में एक हृदय देखता है, और उसे जो इस एकत्व के अनुभव से सुख मिलता है, जब वही व्यवहार में नहीं मिलता तब उसे एक वेदना होती है। यही रहस्य भावना और वेदना का मर्म है। इसी प्रकार जब वह किसी काल या व्यक्ति का इतिहास लिखता है तो वह उसका हृदय अंकित करता है। आगे बढ़ कर यदि इस कविता के मर्मस्पर्शी शब्दों पर मनन किया जाय तो गुनगुनाना, व्यंग्य-मलिन उपहास, रीती गागर, उज्ज्वल गाथा, स्वप्न जाग गया, छाया, मधुमाया, स्मृति, बड़ी कथाएँ, भोली मौन आदि शब्दों में भावों, सम्बन्धों और विचारों का सागर भरा हुआ है, एक एक में निराली कहानी छिपी है। प्रसाद की व्यञ्जना प्रधान शैली की अद्भुत क्षमता है। जो जितना चाहे ग्रहण करे।

प्रसाद के पूर्ण विदग्धता का परिचय इस एक उदाहरण से मिल जाता है। लहर की रचनाएँ सभी इसी युग की हैं।

ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक ! धीरे धीरे ।

जिस निर्जन में सागर लहरी ।
अम्बर के कानों में गहरी--
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे ।

जहाँ साँझ-सी जीवन छाया,
ढीले अपनी कोमल काया,
नील नयन से ढुलकाती हो,
ताराओं की पाँति घनी रे।

जिस गम्भीर मधुर छाया में--
विश्व चित्र-पट चल माया में--
विभुता विभु सी पड़े दिखाई,
दुःख-सुख वाली सत्य बनी रे

श्रम-विश्राम क्षितिज बेला से--
जहाँ सृजन करते मेला से--
अमर जागरण उषा नयन से--
बिखराती हो ज्योति घनी रे।

उपनिषद् के ऋषियों और सभी कालों और देशों के सिद्धान्तों ने 'यह–यहाँ' और 'वह–वहाँ' में भेद किया है, एक प्रत्यक्ष अनुभूति है, इन्द्रिय गोचर ज्ञान है, बुद्धि का प्रकाश है; दूसरा अपरोक्ष अनुभूति है, इन्द्रियातीत प्रातिभ ज्ञान है, हृदय का अन्धकार है। 'यहाँ' की बुद्धि से संसार का व्यवहार चलता है, संसारी सुख-दुःख मिलता है और वहाँ के हार्दिक अनुभव से संसार के भीतर का रहस्य मालूम होता है, साधारण सुख-दुःख से ऊँचा एक विचित्र आनन्द मिलता है। उस आनन्द को चख लेने पर मनुष्य सदा उसी के लिये लालायित रहता है। जब-जब उस परमानन्द की स्मृति जाग पड़ती है, वह उसे पाने का यत्न करता है, कभी तो वह उसके वियोग में आँसू बहाता है और कभी अपनी श्रद्धा का सहारा पाकर उस आनन्द लोक का स्वप्न देखता है, उसका सुनहला चित्र खींचता है। दूसरे प्रकार का मानस चित्र इस गीत में है।

कवि श्रद्धालु है। उसे आनंद लोक में फिर पहुँच जाने का पूर्ण विश्वास है। वह अपने अतीत रूपी नाविक से कहता है—'मेरी बुद्धि' यहाँ से जाना नहीं चाहती। तू मुझे भुलावा देकर वहाँ ले चल। वहीं—उसी हृदय लोक में जहाँ बिलकुल निर्जन है, कोई भी नहीं है, पृथिवी का कोलाहल वहाँ नहीं है, वहाँ तो एक हृदय की बात गूँजती रहती है और केवल एक श्रोता रहता है। जो सहृदय प्रेमी वहाँ पहुँच जाता है, वह अंबर के समान एक निश्छल प्रेम-कथा सुनता है और वह भी किससे? किसी मानस सागर की लहरी से। अर्थात् वह शुद्ध मानस लीला है, वहाँ यहाँ के छल छिद्र और भेद भाव नहीं हैं।

उस लोक का कहाँ तक वर्णन करें, वहाँ जीवन की छाया साँझ के समान अपनी कोमल काया ढील देती है और उषा अपनी आँख से घनी ज्योति बिखराती है। अर्थात् वहीं संयोग का उन्मुक्त सुख मिलता है और वहाँ उषा की सृजन शक्ति भी देख पड़ती है।

उस लोक की ही मधुर छाया में यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि दुःख-सुख दोनों सत्य हैं और विभु (व्यापक) है। दोनों साथ ही उस मानस लोक में रहते हैं। जो दोनों में पुलकित होकर स्वाद लेना जानता है, उसे वहाँ पूरा आनन्द मिलता है।

यदि कविता को पंक्ति-पंक्ति और शब्द पर रुकें और देखें तो न जाने कितनी बातें मिलेंगी। व्यञ्जना और ध्वनि की यहाँ अपूर्व छटा है।

उस दिन जब जीवन के पथ में,
छिन्न पात्र ले कम्पित कर में,
मधु-भिक्षा की रटन अधर में,
इस अनजाने निकट नगर में,
आ पहुँचा था एक अकिञ्चन।

उस दिन जब जीवन के पथ में,
लोगों की आँखे ललचाईं,
स्वयं माँगने को कुछ आईं।
मधु सरिता उफनी अकुलाईं,
देने को अपना संचित धन।

उस दिन जब जीवन के पथ में,
फूलों ने पखुरियाँ खोली,
आँखे करने लगी ठिठोली,
हृदयों ने न सम्हाली झोली;
लुटने लगे विकल पागल मन।

उस दिन जब जीवन के पथ में,
छिन्न पात्र में था भर आता—
वह रस बरबस था न समाता,
स्वयं चकित-सा समझ न पाता,
कहाँ छिपा था, ऐसा मधुवन!

उस दिन जब जीवन के पथ में,
मधु मङ्गल की वर्षा होती,
काँटों ने भी पहना मोती,
जिसे बटोर रही थी रोती—
आशा, समझ मिला अपना धन।

इस गीत में भी उस सुनहले अतीत की झाँकी है, जिसके स्मरण मात्र से मनुष्य छक जाता है। यहाँ भी उसी अनंद नगर का चित्र है जिसका वर्णन पिछली कविता में दूसरे ढंग से हो चुका है। वह नगर निकट ही है, क्योंकि मानस लोक पास ही तो है, पर वह अनजाना है क्योंकि वह व्यवहार की बुद्धि से तो जाना नहीं जा सकता, केवल अनुभव से ज्ञात होता है। इसी से उस दिन जब जीवन

के पथ में मेरा अकिञ्चन चैतन्य टूटा फूटा पात्र लेकर उस आनन्द नगर में पहुँच गया तो अद्भुत बातें हुई। उस दिन हमें अनुभव हुआ कि संपूर्ण संसार मधुमय है, मधु की वर्षा हो रही है, हमारा पात्र ही छोटा और टूटा फूटा है। उसमें रस समाता ही नहीं है। जो मनुष्य मानस लोक की मधुमती भूमिका में पहुँच जाता है, उसे यह विचित्र अनुभव होता है कि रस तो चारों ओर भरा है, रस लेने की शक्ति चाहिए। वहाँ ऐसा चकित और विस्मित होता है कि कह उठता है 'अरे, यह मधुवन कहाँ छिपा था ?'

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे ?
जब सावन-घन सघन बरसते—
इन आँखों की छाया भर थे।
सुरधनु-रंजित नव-जलधर से--
भरे, क्षितिज व्यापी अम्बर से,
मिले चूमते जब सरिता के,
हरित कूल युग मधुर अधर थे।
प्राण पपीहा के स्वर वाली--
बरस रही थी जब हरियाली--
रस जलकन मालती-मुकुल से-
जो मदमाते गन्ध विधुर थे।
चित्र खीचती थी जब चपला,
नील मेघ-पट पर वह विरला,
मेरी जीवन-स्मृति के जिसमें--
खिल उठते वे रूप मधुर थे।

इस कविता में उन दिनों का चित्रण है, जब मुझे उस महा-मिलन का आनन्द मिला था। उन दिनों की मिठास का क्या कहें ? जब सघन बरसते सावन घन इन आँखों की छाया भर थे। वह सावन

की कादंम्बिनी भी हमारी आँखों की छाया मात्र थीं। उसकी शोभा भी इन प्रफुल्ल आँखों के सामने फीकी थी। इसी प्रकार हमारे मधुर अधर इतने रस भरे थे कि उनके सामने वर्षा की अद्भुत छटा वाले नदी के कूल भी कुछ नहीं थे। और जब हमारे यौवन की हरियाली मदमाते और गन्ध विधुर रस कणों की वर्षा कर रही थी।

मेरी आँखों की पुतली में
तू बन कर प्रान समा जा रे!

जिससे कन कन में स्पन्दन हो,
मन में मलयानिल चन्दन हो,
करुणा का नव अभिनन्दन हो--
वह जीवन गीत सुना जा रे!

खिच जाय अधर पर वह रेखा
जिसमें अंकित हो मधु लेखा,
जिसको यह विश्व करे देखा,
वह स्मित का चित्र बना जा रे!

जब मनुष्य मिलन के आनंद में विभोर रहता है, उस समय वह और अधिक उसी आनंद में डूबना चाहता है। उसी अनुभव का यह चित्र है। हे प्रियतम, तू मेरी आँखों की पुतली में प्राण बन कर समा जा। तेरे आने से मेरा हृदय संगीत मय हो जावेगा और मेरे अधर पर वह मुसकान खिलेगी जिसे यह विश्व देखता ही रह जावेगा। अर्थात् मुझे अद्भुत आनंद मिलेगा और दर्शकों को विस्मय।

लहर की इन चुनी हुई कविताओं से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि अब उनकी आँसू वाली व्यथा मौन सो रही है, इस समय संयोग की स्मृति भी आशा और वासना बनकर सान्त्वना दे रही है। जीवन में शृंगार के दो पक्ष होते हैं 'संयोग' और 'वियोग'। 'योग' की अनुभूति तो दोनों में ही होती है; पर प्रेमयोगी का जीवन स्थिर और शान्त तभी होता है, जब वह दोनों का अनुभव करके विदग्ध हो

जाता है, दोनों का समत्व और सामञ्जस्य समझकर इसी मानव जीवन में मानस लोक का परमानन्द पा जाता है। सच्चा मानव जीवन ही उसका योग जीवन हो जाता है। कवि ने भी अपने काव्य-जीवन में इसी ढंग से कार्य किया है। आँसू मे वियोग का हाहाकार है, लहर में मुख्यतः संयोग की मिठास है; अन्त में कामायनी जीवन की समरसता—मानव जीवन की पूर्णता प्रत्यक्ष करके दिखाती है।

कामायनी की पूरी कहानी ही एक कविता है। उसमें एक हृदय रस है, मानव जीवन का एक अखण्ड मधुर रस—चाहे उसे शृंगार कहा जाय अथवा शान्त। इसीलिए यह ऐतिहासिक कहानी—ख्यात वृत्तवाली पुरानी रूपक सी बन गई है। उसमें कवि की बुद्धि और कला ने ऐसा रंग भरा है कि वह किसी भी मानव जीवन का इतिहास बन सकती है।

इसमें दिए हुए पूरे इतिहास को पढ़ चुकने पर एक बात निश्चित हो जाती है कि बुद्धि और तर्क से सब कुछ मिल सकता है; पर सच्चा आनंद नहीं मिल सकता। सच्चा आनंद मानस होता है और वह श्रद्धा से मिलता है, इसी से श्रद्धामय पुरुप ही पुरुप कहलाता है।

क्योंकि उसे ही पुरुप का सच्चा सुख मिलता है। कवि ने महाकाव्य के अन्त में यही एक दृश्य तो दिखाया है कि सारस्वत प्रदेश की रानी बालक मानव को लेकर तीर्थयात्रा करते हुए मानस सरोवर के पास जा निकलती है और वहाँ आनन्द विभोर हो उठती है केवल वही नहीं, सभी वहाँ आनंदी हैं, वह तो आनंद का ही लोक है।

इस प्रकार इस अन्तिम दृश्य से हमे यह विश्वास हो जाता है कि इस उलझी हुई नर गाथा में श्रद्धा रूपी नारी की बाते ही सिद्धान्त की बाते हैं, वे ही मानस लोक में पहुँचने की सीढ़ी हैं। अतः कामायनी का जीवन सिद्धान्त समझने के लिए श्रद्धा का व्यवहार और विचार देखना चाहिए।

श्रद्धा अपने पुत्र मानव को उपदेश देती है—

'हे सौम्य ! इड़ा का शुचि दुलार,
हर लेगा तेरा व्यथा भार ;
यह तर्कमयो तू श्रद्धामय ,
तू मननशील कर कर्म अभय,
इसका तू सब सताप निचय ,
हर ले, हो मानव भाग्य उदय,
सब की समरसता कर प्रचार ।
मेरे सुत ! सुन माँ की पुकार ।"

मैं तेरी माँ हूँ ! तू मेरी आत्मा है । स्वभाव, संस्कार, रीति-नीति आदि सभी तेरी मेरी हैं । अब बेटा, तुझे संसार में बढ़ना है, कुछ करना है । यहाँ बुद्धि के सहारे चलना होगा । इसी से अब तुझे इड़ा को सौंप रही हूँ । इसे ही तू माँ समझ । इसका पवित्र दुलार तेरा दुःख दर्द दूर करेगा । संसार में बुद्धि के मेल से सफलता मिलती है । वह मेल यहाँ जुट गया है । तेरी माँ तर्क मयी है और तू श्रद्धामय है । तू अपने पिता मनु के समान मननशील भी है, अभय होकर कर्म कर, अवश्य विजय होगी । तू अपने अच्छे कर्म से अपनी माँ का सब संताप मिटाने की कोशिश कर । बस, मानव भाग्य का उदय अवश्य होगा । अन्त में एक बात और कहती हूँ कि मेरे लाल, सब की समरसता का प्रचार करना, सुख, दुःख, जड़, चेतन सभी में वह आनंद रस है, इसका पूरा प्रचार करना यही माँ की हार्दिक पुकार है । मुझे पूरा विश्वास है कि तू इस पुकार को अवश्य सुनेगा ।

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की ;
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की ।

समरसता और योग के अभाव में जीवन विडम्बना हो जाता है। नारी अपने नर देव से कहती है कि जब ज्ञान और कर्म दूर रहते हैं, उनमें उचित योग नहीं होता; तब मन की इच्छा कैसे पूरी हो सकती है। सच्चे जीवन में ज्ञान, कर्म और इच्छा तीनों का अपना-अपना स्थान है, उसे न भूलना चाहिए। नहीं तो जीवन असफल खिलवाड़ हो जाता है।

जो ज्ञान और कर्म के योग को अपनाकर निर्भय जीवन यात्रा करता है, उसे उस आनंद लोक की छाया तो सदा ही मिला करती है, पर यदि उसका उसे पूरा दर्शन और अनुभव करना हो तो बुद्धि रानी के सारस्वत प्रदेश को छोड़कर हृदय के मानसरोवर की यात्रा करनी होगी।

है वहाँ महा-ह्रद निर्मल,
जो मन की प्यास बुझाता;
मानस उसको कहते हैं
सुख पाता जो है जाता।

माँ इड़ा बालक मानव को सामने का दृश्य दिखाकर कहती है कि वहाँ एक बड़ी झील है, वह निर्मल है, उसका जल तन की ही नहीं, मन की प्यास भी बुझाता है। उसको 'मानस' कहते हैं। जो वहाँ जाता है, सुखी होता है। कवि ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि सुख मानस वस्तु है।

यात्री दल ने रुक देखा
मानस का दृश्य निराला;
खग मृग को अति सुखदायक
छोटा-सा जगत उजाला।
हम एक कुटुम्ब बनाकर
यात्रा करने हैं आये;

सुन कर यह दिव्य तपोवन
जिसमें सब अघ छुट जाये।
मनु ने कुछ कुछ मुसक्या कर
कैलास ओर दिखाया;
बोले देखो कि यहाँ पर
कोई भी नहीं पराया।
हम अन्य न और कुटुम्बी
हम केवल एक हमीं हैं;
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है।
शापित न यहाँ है कोई
तापित पापी न यहाँ है;
जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है।
अपने दुख · सुख से पुलकित
यह मूर्त्त विश्व सचराचर;
चिति का विराट वपु मंगल
यह सत्य सतत चिर सुन्दर।

कवि आगे उसी मानस झील का निराला दृश्य दिखलाता है। वह केवल मनुष्य को ही नहीं, पशु-पक्षी आदि सभी को सुखदायक है।

वहाँ की भूमि ऐसी दिव्य और मनोहर है कि वहाँ जाने पर मनुष्य अपने पराये के भेद भाव को भूल जाता है और पूरी वसुधा को ही अपना कुटुम्ब समझने लगता है। और चारों ओर पूर्णता का अनुभव करता है। यहाँ न कोई शापित है और न कोई यहाँ तापित पापी है। जीवन में सभी कुछ समतल पर है। जो जहाँ है वह वहीं पूर्ण और प्रसन्न है। उपनिषदों की भाषा में कहें तो—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वह पूर्ण है, यह पूर्ण (भरा हुआ) है, पूर्ण से पूर्ण की सृष्टि होती है, पूर्ण में से पूर्ण निकलने पर भी पूर्ण ही शेष बचता है।

इस परिपूर्णता का अर्थ है—हृदय और मन की परिपूर्णता। व्यवहार में कोई भ्रम न होना चाहिए। हाँ, इतना परिवर्तन अवश्य होता है कि ऐसे परिपूर्ण हृदय वाला मनुष्य सचराचर विश्व को अपने सुख-दुःख से पुलकित देखता है। वह इसे चित् का विराट् शरीर समझता है, जिसमें सभी भले लगते है, सभी मंगलमय हैं।

इस आनन्द लोक को कौन नहीं पाना चाहता। सभी तो सुख की खोज में मरा करते हैं।

अब मैं रह सकती नहीं मौन,
अपराधी किन्तु यहाँ न कौन ?
सुख - दुख जीवन में सब सहते,
पर केवल सुख अपना कहते;
अधिकार न सीमा में रहतें,
पावस निर्झर से वे बहते ;
रोके फिर उनको भला कौन ?
सब को वे कहते--'शत्रु हो न !'

श्रद्धा इसका कारण बताती है कि जीवन में सभी दुःख सहते हैं, पर वे केवल सुख को अपना कहते हैं। यह अपना पराये का भेद सब खेल बिगाड़ता है। इस जीवन को नियति का खेल समझ कर अपनी सीमा में जितना खेल सके खेलना चाहिए। सुख मिले उसका रस लेना चाहिए, दुःख मिले दुःख का रस लेना चाहिए। रसिक बनकर सभी में रस लेना चाहिए और रसिक खेलाड़ी के समान किसी को अपना शत्रु न कहना चाहिए। पर जो रस-हीन हैं खेल

का मजा लेना नहीं जानते; वे सभी को शत्रु कहते हैं। और दुःख से दूर रहकर सुख भोगना चाहते हैं, यही उनका अपराध है। यही उनकी भूल है।

यह भूल भी दूर होती है जब मनुष्य के हृदय में रहने वाली श्रद्धा उस पर कृपा करती है और अपना मधुर गीत सुनाती है।

तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन!
विकल होकर नित्य चंचल,
खोजती जब नींद के पल;
चेतना थक सी रही तब,
मैं मलय की बात रे मन!
चिर विषाद विलीन मन की,
इस व्यथा के तिमिर वन की;
मैं उषा-सी ज्योति रेखा,
कुसुम विकसित प्रात रे मन!
जहाँ मरु ज्वाला धधकती,
चातकी कन को तरसती;
उन्हीं जीवन घाटियों की,
मैं सरस बरसात रे मन!
पवन की प्राचीर में रुक,
जला जीवन जी रहा झुक;
इस झुलसते विश्व दिन की,
मैं कुसुम ऋतु रात रे मन!
चिर निराशा नीरधर से,
प्रतिच्छायित अश्रु सर में;
मधुप मुखर मरंद मुकुलित,
मैं सजल जलजात रे मन!

रे मन, इस कोलाहल और कलह के जीवन में मैं हृदय की बात के समान हूँ। (जिस प्रकार अपने हृदय की बात सुनने में मनुष्य निस्तब्ध हो जाता है, उसी प्रकार श्रद्धालु मनुष्य शांत और स्थिर हो जाता है। विज्ञान क्या है? तुमुल कोलाहल कलह है और श्रद्धा क्या है? शान्त हृदय के भीतर छिपी हुई निजी बात। कितना बड़ा अन्तर है।)

जब नित्य चंचल रहने वाली चेतना (जीवन के कार्य-व्यापार से) विकल होकर नींद के पल खोजती है और थक कर अचेतन-सी होने लगती है, उस समय मैं उसके लिए मलय की वात बन जाती हूँ। (नींद के लिए विकल और थके शरीर को जितना मादक और स्पर्शी सुख मलयानिल के मंद झोंके से मिलता है, उतना ही सुख चेतना को श्रद्धा की थपकी से मिलता है। चैतन्य ही तो जड़ जगत के सुख दुःख का अनुभव करता है। यदि उसे श्रद्धा का सहारा मिल जाता है तो उसकी विकलता दूर हो जाती है; उसे आनन्द का रस मिलता है।)

जो मन चिरविषाद में विलीन है, व्यथा का अन्धकार-वन बना हुआ है, मैं उसके लिए उषा-सी ज्योति रेखा हूँ, कुसुम के समान खिला हुआ प्रात हूँ।

(विषाद और व्यथा को दूर करने के लिए एक ही उपाय है—श्रद्धा! श्रद्धा में वह टटकापन है, वह ताजगी है, वह अरुण आभा है, जो उषा और प्रभात में ही मिलती है। इस जीवन में जब मनुष्य विषाद और व्यथा ही चारों ओर देखता है, उस समय श्रद्धा ही उस अँधेरी रात को दूर करने का उपाय बताती है। यह सोलहो आने सत्य है कि श्रद्धा में दृढ़ मनुष्य कभी संसार को दुःखमय नहीं समझता। उसे दुःख में भी सुख की अरुण किरणें फूटती देख पड़ती हैं।

जहाँ मरुभूमि की ज्वाला धधकती है और चातकी जल के कण को तरसती है, उन्हीं जीवन घाटियों में मैं सरस बरसात बन जाती हूँ।

(जिन लोगों का जीवन मरुस्थल की सूखी घाटी के समान दुर्गम, विषम और ज्वालामय हो गया है, जहाँ चित्त-चातकी को एक कण भी सुख जल का नहीं मिलता, उन लोगों को यदि कहीं श्रद्धा मिल गई तो जीवन में रस की वर्षा होने लगती है। अर्थात् मरुस्थल की वर्षा में जो परस सुख का स्वाद है, वही श्रद्धामय जीवन में है।)

जला जीवन (अभागा मानव जीवन) पवन की परिधि में रुका हुआ है, किसी प्रकार सिर झुकाये जी रहा है, इस प्रकार जिनका विश्व झुलस रहा है, उनके बुरे दिन के लिए मैं वसंत की रात (के समान) हूँ। (जिन्हें इस जीवन ने झुलसा डाला है और जिन्हें संसार की अग्नि से भागने का भी कोई उपाय नहीं है, ऐसे दुख-दग्ध लोगों को श्रद्धा वसन्त की रात के समान सुख देती है। उनके झुलसे मन को हरा बना कर फूल-सा खिला देती है।)

आसुओं का सरोवर है, उसमें चिरनिराशा रूपी बादलों की छाया पड़ रही है, (वर्षा नहीं हो रही है) उस (हाहाकार के)सरोवर में मैं ऐसा सजल कमल हूँ जिस पर भौरें मड़राते हों और जो मकरन्द परिपूर्ण हों। (निराशा और आँसुओं के बीच में भी हृदयकली को खिलाने वाले शक्ति का नाम है श्रद्धा। वह असंभव को भी संभव कर देती है, चमत्कृत कर देती है। चकित करने वाला स्वप्न सत्य वना देती है।)

श्रद्धा के इस गीत की व्याख्या की जाय तो कामायनी की पूरी व्याख्या हो सकती है। स्वयं कवि ने इस गीत के बारे में कहा है—

'उस स्वर लहरी के अक्षर सब
संजीवन रस बने घुले ।'

इस गीत में गीतिकाव्य के—लिरिक कहे जाने वाले काव्य प्रकार के सभी गुण हैं; हृदय की अनुभूति, संगीत मधुरिमा, कला की विदग्धता इत्यादि।

थोड़े में अभी तक जो कुछ हमने देखा है, वह है कामायनी का आध्यात्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोण—इसे ही कहते हैं कवि की बुद्धि और जीवन दर्शन की निपुणता। इसके बिना किसी भी कृति का सच्चा मूल्य ही नहीं मालूम होता। पर इससे भी अधिक महत्व है उस अध्ययन का जो कामायनी की सीधी सादी कहानी पढ़ता है और उसकी अखण्ड रस धारा में स्नान करता है। कामायनी की कहानी इतनी सजीव और मानवतामय है कि उसे रूपक अथवा एलीगरी नहीं कह सकते। रूपक उसी कहानी को कह सकते हैं, जिसमें आदि से अन्त तक उन प्रतीकों का निर्वाह हुआ हो और स्वाभाविक इतिहास अथवा कहानी का रस न मिले। पर कामायनी की कहानी में तो कहानी का रस है, कोरे रूपक को कृत्रिमता नहीं है।

कवि की बुद्धि और कहानी की प्रबन्धता का मर्म समझ लेने पर एक पत्त और शेष रह जाता है वह है—काव्यकला देखना। यही विचार सब से अधिक महत्व का है; क्योंकि कला से ही रसिक को रस मिलता है और कला की आलोचना से ही कवि के कौशल का पता चलता है। किसी भी कृति का अध्ययन अधूरा माना जाता है, जब तक उसकी निर्णयात्मक आलोचना न हो जाय। इस संबंध में हम स्थान और समय के अभाव से अधिक न लिख सकेंगे और इतना ही कहेंगे कि इसमें महाकाव्य के मुख्य सभी लत्तण घटते हैं और रामचरितमानस के बाद यही एक ऐसा महाकाव्य है जो हिन्दी को विश्वसाहित्य में स्थान दिला सकता है। होमर, मिल्टन, वाल्मीकि और कालिदास से तुलना करके भी इसका गुण दोष देखा जाय—इतनी योग्यता इस कलाकृति में है। भाषा और भाव दोनों का ऐसा योग हुआ है कि कोई भी सहृदय इसे प्रसाद की पूर्ण कृति मान लेगा।

कामायनी का कथानक

कामायनी पन्द्रह सर्गों का महाकाव्य है। प्रत्येक सर्ग का
शीर्षक देकर कथा को विभाजित किया गया है— १ – चिन्ता
२—आशा ३—श्रद्धा ४—काम ५—वासना ६—लज्जा ७—कर्म ८ – ईर्षा
६—इड़ा १०—स्वप्न ११ – संघर्ष १२ – निर्वेद १३ – दर्शन १४—रहस्य
१५——आनन्द।

प्रलय के वाद नवनिर्माण कर्ता मनु को आरम्भ से लेकर
अन्त तक जिन भावनाओं के कारण जीवन संघर्षों में कठिनाइयाँ
और अन्त में आनन्द लोक में अनन्त शान्ति की प्राप्ति होती है,
वही सब कामायनी महाकाव्य की आत्मा है। मनुष्य के मानसिक
द्वन्द्व, अतृप्ति और भिन्न-भिन्न भावनाओं का मार्मिक चित्रण इस
महाकाव्य में महाकवि ने किया है। मानव समाज की उत्पत्ति से
लेकर आज तक मनुष्य की मानसिक मनोवृत्तियाँ एक सी ही रही
हैं। कामायनी मनुष्य जीवन का सम्पूर्ण इतिहास है। मनुष्य
जितनी भावनाओं से पूर्ण होता है, कामायनी में उतने ही सर्ग हैं।

प्रलय का भीषण दृश्य है। मनु हिमालय के एक ऊँचे शिखर
पर भीगी आँखों से जल-प्लावन देख रहे हैं। धीरे-धीरे पानी घट
रहा है। पृथ्वी निकल रही है। पहली बार मनु को चिन्ता अपने
आवरण में ढँकती है। वह सोचने लगते हैं कि देव पुरुषों को तो
कभी इसका सामना करना नहीं पड़ा था। यह क्या है? वह
मनु की पहली अनुभूति थी।

सम्पूर्ण ऐश्वर्य और विभूतियों के नष्ट हो जाने पर, मनु पूर्व
स्मृति के कारण चिंता से व्यग्र होते हैं। चिंता के कारण ही मनु के
मन में अभाव और दुख की रेखाएँ अंकित हुईं।

प्रलय का दृश्य समाप्त हो जानेपर मनु का मन सजग होता है। नवीन आशा का संचार होता है। मनु एक गुहा खोज लेते हैं और वहीं अग्निहोत्र और तप में संलग्न होते हैं। देव यज्ञ का प्राचीन रूप फिर से उपस्थित होता है। दिन बितने लगे और एक दिन श्रद्धा से मनु का सामना होता है। मनु कहते हैं—पथ भ्रष्ट उल्का के समान मैं असहाय घूम रहा हूँ और तुम कौन हो? श्रद्धा उत्तर देती है—बलि का अन्न और मनुष्य देखकर मैं यहाँ रुक गई हूँ।

मनु और श्रद्धा में काम और वासना के भाव जागृत होते हैं। दोनो उस प्रवाह में बहने लगते हैं। श्रद्धा का नारी सुलभ सहचरी लज्जा से परिचय होता है। कुछ समय बाद मनु फिर कर्म की ओर अग्रसर होते हैं। यज्ञ-यज्ञ की पुकार के कारण वह स्थिर नहीं रह सकते। कानों में काम की कही हुई बातें गूँजा करती हैं। मन में आशा और अभिलाषाओं का ज्वारभाटा उठा करता है। श्रद्धा के उत्साह पूर्ण वचन और काम की प्रेरणा से वह कुछ का कुछ अर्थ करने लगते हैं।

जल-प्लावन से दो असुर पुरोहित किलात और आकुली बचे हुए थे। मनु के आश्रम में बँधे हुए पशुओं को देख, दोनों की रसना चंचल हो उठती है। वह आपस में मंत्रणा करके मनु के आश्रम के दरवाजे पर आते हैं। मनु कर्म-यज्ञ के लिए पुरोहित न मिलने से चिन्तित रहते हैं। इतने में दोनों असुर पुरोहित आकर कहते हैं—जिनके लिए यज्ञ होगा हम उनके भेजे हुए आये हैं। क्या तुम यज्ञ करोगे?

यज्ञ में पशु बलि के घृणित दृश्य को देख कर श्रद्धा उठकर अपनी गुहा में चली जाती है। मनु सोमपान में रत होते हैं। सोमपान से उत्पन्न कामना के वशीभूत होकर मनु श्रद्धा की गुहा में आते हैं। दोनों में कभी कर्म तत्व पर कुछ वादविवाद होता है।

श्रद्धा उत्तेजित होती है। पर मनु अवसर समझकर श्रद्धा से सोमपान का आग्रह करते हैं। अनुनय विनय से श्रद्धा का हृदय उद्वेलित होता है। मनु श्रद्धा के अधरों से सोम पात्र लगा देते हैं। अब मनु को अग्निदेव के अतिरिक्त और कोई काम नहीं रह जाता। उनके मुँह में खून लग जाता है। जागृत लालसाएँ केवल श्रद्धा के सरल विनोद से नहीं शांत होतीं। श्रद्धा आखेट और हिंसा से घृणा करती है। वह उन पशुओं को मारने के बदले पालना चाहती है। इसी बात को लेकर मनु से तर्क वितर्क करती है। मनु इससे झुँझला कर श्रद्धा को छोड़कर चले जाते हैं।

मनु सरस्वती-तट के एक उजड़े हुए नगर में आते हैं। वह सरस्वती-तट पर बैठ कर सुर-असुरों के विगत कार्यों की प्रशंसा करते हैं। उसी समय वहाँ एक सुंदर बाला आती है। मनु कहते हैं—अरे, आलोक से भरी चेतना-सी यह हेमवती छाया कहाँ से आई? वह बोली—मैं इड़ा हूँ। मेरा यह सारस्वत प्रदेश भौतिक हलचल से चंचल हो उठा था। मैं इसमें इसी आशा से पड़ी हूँ कि कभी मेरा भी दिन फिरेगा।

उधर श्रद्धा मनु के लौट आने की राह देखती है। अन्त में वह निराश ही होती है। उसे एक पुत्र भी उत्पन्न हो गया है।

इड़ा मनु की पथ-प्रदर्शिका बनती है। आश्रम की भूखी जनता भी खूब श्रम करती है। सुन्दर नगर बनता है। खेती होती है। धातुओं को गला कर नये नये अस्त्र और आभूषण बनते हैं। वसुधा के गर्भ में जो कुछ है, वह मानव प्रयत्न से ऊपर आने लगता है। श्रद्धा उस आश्चर्य भरी दुनियाँ में मलय बालिका सी चलती हुई सिंह-द्वार के भीतर पहुँचती है। वह आश्चर्य-चकित होती है। इतने में कर में चषक लिये मनु सम्मुख दिखाई पड़ते हैं और इड़ा सामने बैठी आसव ढाल रही है। मानव के अन्तर में जो पशुत्व है वह

हुँकार उठता है। मनु इड़ा पर आसक्त होते हैं। इससे देवता गण रुष्ट होते हैं। इतने में श्रद्धा की आँख खुल जाती है।

श्रद्धा का जो स्वप्न था वह सत्य बन गया था। इड़ा में क्षोभ था और प्रजा संकुचित थी। भौतिक विप्लव से त्रस्त होकर लोग आश्रय के लिये आते हैं। किन्तु वहाँ अपमान ही मिलता है। मनु इड़ा पर पूर्ण स्वामित्व पाना चाहते हैं। वह मना करती है। पर मनु उसे अपनी भुजाओं में कस लेते हैं। प्रजा इससे बिगड़ उठती है। फलस्वरूप मनु और प्रजा में युद्ध होता है। इस युद्ध में असुर पुरोहित आकुली और किलात भी प्रजा को भड़काते हैं। भयंकर युद्ध के बाद मनु घायल होकर मूर्छित हो जाते हैं।

इड़ा बैठी हुई सोचती है कि उस दिन आया हुआ परदेशी कितना दुखी था। उसके चारों ओर सुनापन छाया हुआ था। वही शासन का सूत्रधार और नियमन का आधार बना और अपने ही बनाये नवविधान का स्वयं साकार दण्ड रहा है। इतने में उसे सुनाई देता है कि कोई किसी को खोज रहा है। इड़ा उनके पास पहुँच कर पूछती है—किसे खोजते हो ? जरा देर यहाँ विश्राम करो। वह सब प्रकाश के सामने आते हैं। आलोक में श्रद्धा देखती है कि मनु घायल होकर पड़े हैं। श्रद्धा मनु को सहलाने लगती है। मनु की मूर्छा हट जाती है। दोनों की चार आँखें होती हैं और कुछ आँसू की बूँदे भूमि को तर कर देती है।

मनु क्षोभ के कारण सूर्योदय के पहले ही कहीं चल देते हैं। इससे सब उद्विग्न होते हैं। श्रद्धा अपने लड़के सौम्य और इड़ा को एक सूत्र में बाँध कर मनु को खोजने निकलती है। सरस्वती-तट पर लतावृत गुफा में किसी के साँस लेने की आहट पाकर श्रद्धा देखती है तो दो आँखें चमकती हुई दिखलाई देती हैं। वह मनु ही थे।

आगे-आगे श्रद्धा और पीछे-पीछे मनु ऊँचे ऊँचे पहाड़ों को डाँकते

हुए और भी ऊँचे चढ़े जा रहे हैं । मनु ने पूछा—श्रद्धा मुझे बताओ। यह नये ग्रह कौन हैं ? मैं किस दुनियाँ में पहुँच गया ? श्रद्धा उत्तर देती है—इस त्रिकोण के बीच शक्ति और विपुल क्षमता वाले बिंदुओ में से एक एक को तुम स्थिर होकर देखो । यह इच्छा, ज्ञान और क्रिया के बिन्दु हैं । श्रद्धा क्रमशः ज्ञान और योग की भूमिकाओं से मनु का परिचय कराती हुई आगे ले जाती है ।

सरिता के रम्य पुलिन में यात्रियों का एक दल धीरे-धीरे चल रहा था । युवकों का उल्लास, बालकों की किलकारी और स्त्रियों के मंगल गान से दल मुखरित था । बालक पूछता—माँ ! हम कहाँ चल रहे ? माता उत्तर देती है—हम जहाँ जा रहे हैं, वह संसार का पवित्र शीतल और शान्त तपोवन है ।

मानस-तट पर मनु ध्यान मग्न बैठे हैं । पास ही फूलों की अंजली भरे श्रद्धा खड़ी है । इड़ा के पीछे मानव भी डग मारता चल रहा था । चिरलग्न प्रकृति से पुलकित वह चेतन पुरुष पुरातन आनन्द के सागर में अपनी शक्ति से तरंगायित था । मानव उसे देख कर श्रद्धा की गोद में लिपट गया । इड़ा ने चरणों पर शीश रख कर कहा—मैं यहाँ आने से धन्य हो गई । हे देवि ! बस तुम्हारी ममता मुझे यहाँ तक खींच लाई । भगवती ! मैं समझ गई कि मुझे कुछ भी समझ नहीं थी । मैं केवल सब को भ्रम में रख रही थी । हम केवल एक कुटुम्ब बनाकर इस तपोवन की यात्रा करने आये हैं । क्योंकि हमने सुना था कि इस दिव्य तपोवन में सब पाप छूट जाता है । मनु ने मुस्कराते हुए कैलास की तरफ दिखलाकर कहा—देखो यहाँ कोई भी पराया नहीं है । सब एक हैं । अपने दुःख-सुख से पुलकित यह सचराचर मूर्त विश्व चिति की विराट् पर मंगलकारी शरीर है । यह सतत सत्य है, यह चिर सुन्दर है !

———